मूलसंघ में पंचामृताभिषेक का अभाव

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्री कटारिया-द्वय अपने व्यवसाय में लगे रहते हुए भी आगमानुकूल साहित्य सृजन करने के लिए यथावसर समय निकालते रहते हैं जो उनकी आगम के प्रति रुचि का द्योतक है।

जैसे दिगम्बर जैन समाज में अनेक उत्तरकालीन ग्रंथ कुन्दकुन्द, उमास्वामी आदि मान्य आचार्यों के नाम पर मढ़ दिये गये हैं वैसे ही अनेक मिथ्यात्वपोषक एवं अनावश्यक क्रियाकाण्ड भी जैन संस्कृति के अंग बताये जाने लगे हैं एवं तत्समर्थक त्रिवर्णाचार, चर्चासागर, उमास्वामी श्रावकाचार आदि साहित्य भी रच डाला गया है या प्राचीन साहित्य का अर्थ एवं विवेचन अपने मनोनुकूल पक्ष के पोषण के लिए किया गया है। इन सब से न केवल साधारण ज्ञानवाले श्रावक अपितु विद्वान् भी दिग्भ्रम हो जाते हैं। वे वास्तविकता जानना चाहते हैं किन्तु उनके लिए भारी भरकम पोथे उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि उनके पास न तो इतना समय है और न ही बुद्धि कि वे उनकी भली प्रकार अवगाहन कर यथार्थता जान सकें। ऐसे पाठकों को विशेष लक्ष्य में रखते हुए प्रस्तुत 'रत्नावली' प्रकाशित करना आवश्यक समझा गया है। इन निबंधो में विद्वान् लेखक ने अपने विभिन्न आचार्यों एवं उनकी रचनाओं, अनेक क्रियाकाण्डों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्राचीन ग्रन्थों से खोजयुक्त साधार सामग्री प्रस्तुत की है जो हमारी मिथ्या धारणाओं का निरसन करते हुए हमें शास्त्रानुकूल सच्चे मार्ग की ओर ले जाती है।

आशा है इस 'रत्नावली' से जैन समाज लाभ उठायेगा तथा मिथ्यात्व पोषक एवं अनावश्यक क्रियाकाण्डों व रूढ़ियों को छोड़कर, अपने ज्ञान का विकास कर भगवान वीर के सच्चे अनुयायी बनते हुए अपना कल्याण करेगा इसी पुनीत भावना से प्रेरित होकर इस 'रत्नावली' का प्रकाशन सच्चे दिगम्बर धर्म की रक्षा के लिए किया गया है।

मारवाडी रिलीफ सोसायटी
कलकत्ता
दिनांक : १६-१-६६

– छोटेलाल जैन

जैन निबंध रत्नावली पर सम्मति

निबंधावली के विभिन्न निबंधों को सावधानता पूर्वक पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई। उनमें से कुछ निबंध श्री रतनलाल कटारिया की लेखनी से प्रसूत हुए हैं तो कुछ निबंध उनके पूजनीय पिता की लेखनी से लिखे गये हैं। एक़ वंश में तुलनात्मक अध्ययन की ऐसी परम्परा आज के समय में सचमुच दुर्लभ है। निबंध मुख्य रूप से जैन विज्ञानविषयक अध्ययन से सम्बद्ध हैं। और उनका विषय साहित्य, संस्कृति और सामाजिक धर्म है। उनमें विषयों की तुलनात्मक समीक्षा बहुत ही संतुलित रीति से की गयी है। सर्वत्र प्राप्त प्रमाणों के प्रकाश में सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न ही परिलक्षित होता है। इस सत्प्रयत्न के लिए लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं। कुछ निबंध अपना स्थायी मूल्य रखते हैं। उनसे ऐसी नवीन सामग्री प्रकाश में आयी है जो विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी है। मैं इन निबंधों के पुस्तकरूप में प्रकाशन का स्वागत करता हूँ और श्री कटारिया से इस प्रकार के और भी अधिक अध्ययन की आशा करता हूँ।

धवला
८, राजारामपुरी, कोल्हापूर, महा
दिनांक :१२-१-६६

– आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

आत्म-निवेदन

इनमें अनेक निबंध परस्पर सम्बद्ध हैं अतः विद्वान् पाठकों से प्रार्थना है कि उनको कहीं कोई शंकास्पद स्थल प्रतीत हो तो पहले धैर्यपूर्वक समग्र ग्रन्थ का अध्ययन कर लें या बहुश्रुताभ्यासियों से पूछ लें, फिर भी किसी शंका का समाधान न हो तो वे हमें पत्र लिखकर पूछ सकते हैं, सहर्ष हम उसका समुचित उत्तर देंगे। बिना ऐसा किये जैन पत्रों में किसी विषय पर वाद-विवाद प्रारंभ कर वातावरण को दूषित करना योग्य नहीं है।

इन निबंधों में --

१. ''आर्षं संदधीत न तु विघटयेत्।''

इस सूत्र के अनुसार अनेक लेखक-विद्वानों त्यागियों की विविध गलतियों, शास्त्रवाक्यों पर उनकी अनुचित आपत्तियों का समीक्षापूर्वक निरसन और समाधान करके शास्त्रसंगतता प्रदर्शित की गयी है और अनेक मार्मिक बातें प्रकट की गयी हैं।

२. ''को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे''।

''दोषा वाच्या गुरोरपि''।

इन सूत्रद्वय के अनुसार प्राचीन अर्वाचीन अनेक ग्रन्थकारों के पूर्वाचार्यों से असम्मत, सिद्धान्त-विरुद्ध कतिपय असंगत कथनों को एवं जैनधर्म की मूल प्रकृति— वीतरागता, अहिंसा एवं अपरिग्रहता से बाधित कुछ प्ररूपणाओं को प्रकट किया गया है जो गम्भीरतापूर्वक निष्पक्ष भाव से मननीय है।

जो कुछ हमने समीक्षण किया है उसे उस तक ही सीमित रखना योग्य है।

जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को हमने अमान्य बताये हैं उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि -हम उन ग्रन्थों को जैनधर्म से बहिष्कृत कर रहे हैं। हमारे लिखने का इतना ही अभिप्राय जान लेना चाहिए कि -उन ग्रन्थों में जो कथन मूलसंघ के अनुसार नहीं है उन्हें न माना जावे।

इस विषय में हमारी दृष्टि भगवती आराधना की निम्नांकित गाथा के अनुसार है -

गिहिदत्थो संविग्गो अत्थुवदेसे ण संकणिज्जो हु।
सो चेव मंदधम्मो अत्थुवदेसम्मि भयणिज्जो ।।३५।।

अर्थ :- गृहीतार्थ कहिए जिसने आगम के अर्थ को प्रमाण नयनिक्षेप से, गुरु परिपाटी से एवं स्वानुभव प्रत्यक्ष से भली प्रकार ग्रहण किया है और जो संविग्न कहिए संसार–देह भोगों से विरक्त है, पापों से भयभीत है ऐसा सम्यग्ज्ञानी आगमार्थ के उपदेश में शंका करने योग्य नहीं है। किन्तु जो इससे विपरीत मंद आचार विचारवान् है उसका तत्त्वोपदेश भजनीय है – अर्थात् समीचीन आगम से सम्मत कथन हो तो माननीय और प्रामाणिक है अन्यथा नहीं।

जो ग्रन्थ या ग्रन्थकार मूलसंघ का नहीं है, कहीं कहीं उसका भी प्रमाण हमने अपने वक्तव्य की पुष्टि में दिया है उसका यह अर्थ नहीं है कि— हमने उसे प्रमाण कोटि में मान लिया है। प्रतिपक्षी उसे प्रमाण मानते हैं इस अपेक्षा से हमने उसे प्रमाण में पेश किया है। जैसे हमने पद्मपुराण–हरिवंशपुराण की अमान्यता में इंद्रनन्दी के नीतिसार का प्रमाण दिया है तो इसका मतलब यह नहीं है कि— हम नीतिसार को प्रमाण मानते हैं। नीतिसार में तो सोमदेव को भी मान्य ग्रन्थकार माना है जबकि हमने उन्हें मूलसंघ का नहीं बताया है। इस विषय में हमारी नीति वही समझनी चाहिए जैसे कि एक जैनी वैदिकों के समक्ष जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए कहता है कि – वेदों में भी हमारे जैन तीर्थंकरों के नाम लिखे मिलते हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि जैनी वेदों को प्रमाण मानते हैं।

पंचामृताभिषेकादि पर स्वर्गीय पं. पन्नालालजी संघी ने 'विद्वज्जनबोधक' में बहुत उत्तम ढंग से विवेचना की है और उस विवेचना में उन्होंने मान्य ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत करके यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि— इन मान्य ग्रन्थों में पंचामृताभिषेकादि का विधान नहीं है, किन्तु इसपर यह सवाल बराबर उठता आ रहा था कि उनकी उस सूची के अलावा जिन अन्य ग्रन्थों में पंचामृताभिषेक लिखा है उन ग्रन्थों को क्यों नहीं माना जावे? नहीं मानने का भी कोई हेतु होना चाहिए। उनकी उसी कमी को दूर करते हुए हमने अंतिम निबंध में सप्रमाण बताया है कि वे ग्रन्थ अमुक अमुक कारणों से मूलसंघ के नहीं हैं, इसलिए वे अमान्य हैं।

भगवान् वीर को २५०० वर्ष हो गये हैं, इतने दीर्घ काल में अनेक विषम परिस्थितियों के कारण और विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव से जैनधर्म के आचार एवं विचार दोनों में शनैः शनैः विविध विकार प्रविष्ट हुए हैं और कालदोष से एक ही जैन संघ के अनेक सम्प्रदाय–आम्नाय संघ गण गच्छ पंथादि भेदोपभेद हो गये हैं।

'दर्शनसार' में देवसेनाचार्य ने अनेक जैन संघों को उत्सूत्रगामी और जैनाभास करार दिया है। आज उनमें से बहुत से (द्राविड़, यापनीय, काष्ठादि) संघ विलीन हो गये हैं किन्तु उनके द्वारा निर्मित और उत्तरोत्तर प्रभावित अनेक शास्त्र अभी भी चले आ रहे हैं जिन्हें आज हम बिना किसी भेदोपभेद की कल्पना किये सर्वांश में वीर-वाणी समझे हुए हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। शास्त्रों में संघभेद, आम्नाय-भिन्नता और छद्मस्थता आदि से अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हुईं हैं और इसीलिए आचार्य वीरसेन ने सिद्धान्तग्रन्थों की धवला-जयधवला टीकाओं में उत्तरा प्रतिपत्ति एवं दक्षिणा प्रतिपत्ति के कथन-भेदों का उल्लेख किया है और कहीं-कहीं उत्तरा प्रतिपत्ति को ही श्रेष्ठ बताया है। उन्होंने आचार्यों के विविध मान्यता भेदों का भी अनेक जगह प्रदर्शन किया है और किसी-किसीको अयुक्त भी सिद्ध किया है। ५ वीं- ६ठीं शताब्दी के आचार्य सिद्धसेन ने भी अपने ''सन्मतिसूत्र'' के काण्ड २ गाथा १८ तथा ग्रन्थान्त में एतद्विषयक अनेक संकेत दिये हैं।

इन निबंधों में हमने जो कुछ लिखा है वह सदाशयता को लेकर ही लिखा है, अतः उसी भाव से उसे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान की मंदता के कारण सम्भव है विविध चर्चाओं में हम भी कहीं चूके हों, अगर कहीं किसीको कोई गलती नजर आवे तो सूचित करने की कृपा करें। इसके लिए हम उनके आभारी होंगे।

अंत में विज्ञ पाठकों से एक निवेदन और है कि -

जो आचार-विचार जैन धर्म की मूल प्रकृति — वीतरागता, अहिंसा, अपरिग्रहतादि के जितने सन्निकट हों उन्हें ही अपनायें — प्राथमिकता दें; यह नहीं कि -पक्षवाद में पड़कर उन्हें तो दबायें और जो मूल से दूर हों उल्टा उन्हें प्रश्रय दें। अगर इतना भी विवेक हम नहीं रखेंगे तो अच्छी बातों से तो हम हाथ धो बैठेंगे और विकृत बातें, निष्प्राण क्रियाकाण्ड हमारे पल्ले पड़ जायेंगे। अतः सदा समीचीन शुद्धमार्ग को ही अंगीकार करें और उसीके प्रसार में दत्तचित्त रहें।

केकड़ी (अजमेर, राज.)
माघ शुक्ला ५, वि. सं. २०२२
वसंतपंचमी. सन् १९६६

- मिलापचंद रतनलाल, कटारिया

प्राक्कथन

प्रस्तुत निबंधावली में संगृहीत निबंध जैन साहित्य के विविध विषयों से सम्बद्ध हैं। कुछ निबंध शुद्ध साहित्यिक हैं तो कुछ निबंध जैन साहित्य में चर्चित विषयों से सम्बद्ध हैं। दि. जैन परम्परा में प्रचलित पंथमूलक पूजा-प्रतिष्ठा विधि तथा उससे सम्बद्ध साहित्य की समीक्षापरक निबंध इस सन्ग्रह की विशेषता है। जैन साहित्य के इन अंगों पर समीक्षात्मक रूप से लिखे गये लेखों का कोई संकलन अभी तक मेरे देखने में नहीं आया है। इन निबंधों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि लेखकद्वय ने पूजा-प्रतिष्ठाविषयक साहित्य का भी अच्छा अनुगम किया है और इस विषय के भी वे पण्डित हैं।

दि. जैन समाज में जो पंथभेद हुआ वह मूलतः पूज्य, पूजा सामग्री और पूजाविधि को लेकर हुआ है। अतः उनपर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

मूर्तिपूजा जैनों तथा अनार्य जातियों से वैदिकधर्म में पहुँची। किन्तु मूर्तिपूजा को अपनाने के पश्चात् जब वैदिकधर्म ने धीरे-धीरे आधुनिक हिंदू धर्म का रूप लिया तो यज्ञ तो तिरोहित हो गये और उनका स्थान मन्दिरों और मूर्तियों ने ले लिया। वैदिक धर्म के पुरस्कर्ता ब्राह्मण वर्ग की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि उसने जिस वस्तु को भी अपनाया, उसे इस तरह अपनाया कि मानो मूलतः यह वस्तु उन्हीं की थी। जैसे यज्ञकाल में यज्ञविषयक साहित्य और क्रियाकाण्ड का इतना विकास हुआ कि वह अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँचा, उसी तरह मन्दिर और मूर्तियों को अपनाने के पश्चात् पूजा विधि विषयक साहित्य का भी बहुत विकास हुआ और पूजा विधि में भी नये नये तत्त्व, रीति-रिवाज प्रविष्ट होते गये। उनको पूजा का उद्देश्य वही रहा जो यज्ञों का था। देवताओं को प्रसन्न करके उनसे लौकिक अभ्युदय की याचना करना। देवता भी प्रायः उसी जाति के थे। यद्यपि अवतारवाद के फलस्वरूप कुछ देवताओं को भगवान के अवतार के रूप में माना जाता था। किन्तु उन देवताओं के भक्त देवताओं की भी कमी नहीं थी और उन्हें भी भगवान का भक्त या गण मानकर भगवान की तरह ही पूजा जाता था। इन सब के बढ़ते हुए प्रभाव से जैन धर्म भी अछूता नहीं रह सका। जैनधर्म मूलतः क्रियाकाण्डी धर्म नहीं है। वह भाव प्रधान धर्म है। क्रियाकाण्ड को उसमें भाव के ही

अंगरूप स्वीकार किया गया है। यदि क्रिया से भाव को पृथक् कर लिया जाये तो वह व्यर्थ हो जाती है। इसीलिए उसमें ऐसी भी स्थिति स्वीकार की गयी है जिसमें द्रव्य के बिना केवल भाव पूजा ही मान्य है। उपवास के दिन गृहस्थ के लिए स्नान करने का भी निषेध है, अतः उस दिन धार्मिक कृत्य पूजा का विधान करते हुए सागारधर्मामृत में कहा है –

पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमय्येव पूजयेत् ।
प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ।।४१।। अ. ४।

उपवास के दिन गृहस्थ को भावमयी पूजा से ही पूजा करनी चाहिए। अथवा प्रासुक द्रव्यमयी पूजा से पूजना चाहिए। और राग के अंगों को एकदम छोड़ देना चाहिए।

श्रावक के आचारविषयक जितना भी स्वतंत्र साहित्य है वह प्रायः दसवीं शताब्दी से रचा गया है। केवल रत्नकरण्डक श्रावकाचार अपवाद है। आचार्य कुन्दकुन्द के समय में ग्यारह प्रतिमा, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये संपूर्ण श्रावकाचार था। रत्नकरण्डक में भी इसी प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया गया है। चारित्रप्राभृत में प्रथम सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के नाम मात्र गिनाये हैं। रत्नकरण्डक में प्रत्येक अंग का स्वरूप बतलाया है। उसके बाद पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का कथन करके ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप कहा है। अंतर इतना है कि कुन्दकुन्द ने दिग्व्रत देशव्रत को एक गिना है और उस कमी की पूर्ति सल्लेखना को शिक्षाव्रत में लेकर की है। रत्नकरण्डक में दिग्व्रत देशव्रत को अलग अलग गिना है और सल्लेखना का पृथक् कथन किया है। चारित्रप्राभृत में अतिथि पूजा है, रत्नकरण्डक में वैयावृत्त्य है और वैयावृत्त्य का अर्थ अतिथि पूजा ही किया गया है। एक विशेषता और है कि उसमें श्रावक के अष्ट मूलगुण भी बतलाये हैं। इतना ही प्राचीन श्रावकाचार है।

आचार्य जिनसेन (नौवीं शताब्दी) के महापुराण की रचना से श्रावकधर्म का विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। पाक्षिक नैष्ठिक साधक उसके भेद हुए, पूजा के विविध प्रकार हुए। प्राचीन षट्कर्म थे –सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। मुनि और गृहस्थ दोनों इनका पालन करते थे। उनके स्थान में देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट्कर्म हो गये। और इनमें भी

पूजन को विशेष महत्त्व मिलता गया।

पूजन तो अभिषेक पूर्वक होता है। विमलसूरि के पउमचरिउ का रूपान्तर रविषेण ने पद्मचरित के रूप में किया। इस रूपान्तर से पउमचरिउ का पंचामृताभिषेक दिगम्बर परम्परा में घुस बैठा। विमलसूरि की आम्नाय यापनीय हो सकती है। दिगम्बर परम्परा के तो वह नहीं थे। रविषेणाचार्य के उल्लेख का महापुराण के रचयिता भगवज्जिनसेन पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने महापुराण के प्रारम्भ में रविषेण का स्मरण भी नहीं किया। किन्तु हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने उन्हें अपना पूर्व पुरुष मानकर अपने पुराण के प्रारम्भ में रविषेण का स्मरण भी किया और पंचामृताभिषेक को पूर्वाचार्य कथित मानकर अपना लिया। बस परम्परा चल पड़ी। सोमदेवसूरि ने अपने उपासकाध्ययन में सभी फलों के रसों से भगवान का अभिषेक करा दिया।

सोचने की बात है कि दुनिया जल से स्नान करती है। साक्षात् जिन का अभिषेक भी क्षीरसमुद्र के जल से ही हुआ था। फिर उनकी मूर्ति का अभिषेक रसों से करने की क्या तुक है? दूसरे, निवृत्तिप्रधान जैनधर्म में भी दूध, दही आदि को अमृत कहीं भी नहीं बतलाया है। इनकी गणना तो विकृतियों में की गयी है। इनके सेवन से विकार पैदा होता है। अतः रस परित्याग में इनका त्याग कराया जाता है। ये तो हिंदू धर्म में ही अमृत माने गये हैं। उन्हींके यहाँ इन पंचामृतों से मूर्ति का अभिषेक होता है। उन्हींका प्रभाव हम पर भी पड़ गया है, यह निश्चित है।

इसी तरह जैन धर्म में पूज्य केवल पंचपरमेष्ठी हैं, क्योंकि उनमें रत्नत्रय का एकदेश या सर्वदेश पाया जाता है। जिनमें रत्नत्रय की पात्रता भी नहीं है वे जैनधर्म में पूज्य नहीं माने गये हैं। वैदिक धर्म में एक समय इन्द्र का बड़ा प्राधान्य था। जैन धर्म में भी उसी इन्द्र को जिनेन्द्र का सेवक बतलाया गया है। समवसरण में यक्ष-यक्षिणियों को भगवान के ऊपर चमर ढोरनेवाला बतलाया है। किन्तु बहुदेवतावादी हिन्दू संस्कृति के प्रभाव से जैनधर्म में इन यक्ष-यक्षिणियों को शासन का रक्षक मानकर पूजने की परम्परा भट्टारक युग में चल पड़ी।

जैन आगम के अनुसार जैनधर्म में भट्टारक कोई पद नहीं है। शंकराचार्य ने बौद्ध और जैनधर्म के विरुद्ध जो अभियान शुरू किया था उससे बचने के लिए शंकराचार्य के

द्वारा स्थापित मठों की ही तरह जैन धर्म में भी मठों और मठपतियों –भट्टारकों की परम्परा प्रवर्तित हुई। उससे जैनधर्म की रक्षा भी हुई। किन्तु हिन्दू मठपतियों से प्रभावित जनता के संरक्षण के लिए उनकी कुछ प्रक्रियाओं को भी अपनाना पड़ा। श्री. पी. वी. देसाई ने अपनी 'जैनिजम इन साउथ इंडिया' नामक पुस्तक में तमिल प्रान्त में यक्षी संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि तमिल में जैनधर्म को शैव और वैष्णव धर्म से टक्कर लेनी पड़ी। शैव और वैष्णव धर्म में पार्वती और लक्ष्मी की पूजा का प्राधान्य था। क्योंकि ये दोनों शिव और विष्णु की अर्धांगिनी थीं। उधर जैनधर्म में तीर्थंकरों की कोई स्त्री नहीं थी, अतः भक्त जनों के मन को आकृष्ट करने के लिए जैन यतियों ने अपने धर्म में यक्षीपूजा का आविष्कार किया।

जैन प्रतिष्ठाविधि में देवताओं का आह्वान, बलिग्रहण, पूजन, विसर्जन आदि सब हिन्दू धर्म के प्रभाव की देन है। यह तान्त्रिक–मान्त्रिक युग बौद्ध धर्म को तो खा ही गया। जैन धर्म को वह खा तो नहीं सका, किन्तु उसे उसने निवृत्तिवादी धर्म से प्रवृत्तिवादी धर्म बना दिया। उसीका प्रभाव है कि निवृत्तिवादी मुनिमार्ग भी प्रवृत्तिवाद पर उतर आया है। वह भी श्रावकधर्म सम्बन्धी क्रियाकाण्ड का पुरस्कर्ता बन गया है। उसे भी प्रतिदिन पंचामृताभिषेक देखे बिना चैन नहीं पड़ती। कहाँ कुन्दकुन्द का मार्ग और कहाँ अपने को कुन्दकुन्दान्वयी माननेवालों का मार्ग? दोनों में कितना अन्तर पड़ गया है!

प्रस्तुत निबंधावली के अनेक निबंध इन देवताओं की यथार्थता पर प्रकाश डालने वाले हैं और वे ही संग्रह की लेखगत विशेषता के लिए उल्लेखनीय है। अभीतक किसी भी विद्वान् ने जैन क्रियाकाण्ड में प्रविष्ट इस अंग पर आलोचनात्मक रूप से प्रकाश नहीं डाला था। दोनों विद्वानों ने शास्त्राधारपूर्वक इस विषय पर प्रकाश डाला है।

श्री पं. मिलापचन्दजी कटारिया का 'जैनधर्म और हवन' शीर्षक लेख भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। अग्नि में आहुति देकर देवताओं को तृप्त करने की वैदिक विधि इसके मूल में है। वैदिक धर्म में अग्नि को देवताओं का मुख कहा है। किन्तु जैनधर्म में तो अग्नि न तो स्वयं कोई देवता है और न देवताओं का मुख है। वह तो एक भस्म कर देनेवाली जड़ वस्तु है। अतः उसमें आहुति देकर किसीको तृप्त करने का कोई प्रश्न नहीं है। पूजन तो अग्नि में क्षेपण बिना भी संभव है।

इन्हीं सब प्रवृत्तियों का विरोध उत्तरभारत में एक समय लहर के रूप में फैला और वह तेरहपंथ कहलाया। उस पंथ ने पूज्य के स्थान में केवल पंचपरमेष्ठी को मान्य किया। पूजन में शुद्ध जलाभिषेकपूर्वक प्रासुक द्रव्य को अपनाया। मूर्ति पर किसी भी प्रकार का लिम्पन या पुष्पारोहण को अमान्य किया, क्योंकि उससे वीतराग छवि में दूषण लगता है।

एकीभावस्तोत्र में वादिराज आचार्य ने कहा है -

आहार्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणां यश्च शक्यः।
सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां
तत्किं भूषावसनकुसुमैः किं च शस्त्रैरुदस्त्रैः।।

हे जिन! जो स्वभाव से अमनोरम–असुंदर होता है वह अपनी ऊपरी सजावट से दूसरों को आकर्षित करता है। जो वैरियों के वश में आने योग्य होता है वह सदा शस्त्र लिये रहता है। हे जिन! तुम तो सर्वांगसुंदर हो, दूसरों के वश में भी आने योग्य नहीं हो, तब तुम्हें आभूषण, वस्त्र और फूलों से तथा अस्त्र–शस्त्र से क्या प्रयोजन है? यहाँ पुष्प का भी निषेध किया गया है।

जैनधर्म का लक्ष्य पूर्ण वीतरागता है। अतः राग को घटाना ही विधेय है। शुद्ध जलाभिषेक में अल्प आरम्भ होने से अल्पसावद्य है, पंचामृताभिषेक में बहुत आरम्भ होने से सावद्य भी विशेष है। इसी तरह सचित्तपूजा से अचित्तपूजा में अल्पसावद्य है, हिंसा कम है। फिर भी जिन गृहस्थों को जो पसंद हो वे करें, किन्तु मुनिमहाराजों को उसका आग्रह होना उचित नहीं है। आज उन्हींके आग्रहवश यह पंथ विवाद जोर पकड़ रहा है। अस्तु।

सोमदेव जैन विचारधारा के कट्टर अनुयायी थे, किन्तु उदार भी थे। उनकी वह उदारता थी परम्परा के संरक्षण के लिए। उनकी यह उक्ति जैन परम्परा के संरक्षण के लिए स्वर्णिम सन्देश है –

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ।।

सभी जैनों को वह लोकाचार प्रमाण है जिससे सम्यक्त्व में हानि न आती हो और न व्रत में दूषण लगता हो।

उन्होंने जो सत् शूद्र को दान का अधिकारी बतलाया है वह आज कुछ विद्वानों को इसलिए अयुक्त लगता है कि आज शूद्र जल त्याग का नया धर्म प्रवर्तित कर दिया गया है। किन्तु जैनधर्म में सत् शूद्र की वही स्थिति नहीं थी जो मनुस्मृति में प्रतिपादित है। उसे अमुक सीमा तक धर्म सेवन का अधिकार था।

इसी तरह सोमदेव ने ब्रह्माणुव्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) के लक्षण में वधू की तरह वित्तस्त्री (वेश्या) को भी छूट दे दी है। यह सामयिक प्रभाव है। इसे न समझकर कुछ नासमझ लोगों को 'वित्तस्त्री' का अर्थ वेश्या करने पर आपत्ति है किन्तु उनकी वह आपत्ति भावनामूलक है। वित्तस्त्री का वेश्या के सिवाय दूसरा अर्थ होता ही नहीं।

ऋषभ निर्वाण दिवस
वी. नि. सं. २४९२
ईस्वी सन् १९६६

— कैलाशचन्द्र शास्त्री
वाराणसी (उ. प्र.)

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ
१.	प्रकाशकीय वक्तव्य (श्री छोटेलाल जैन)	एक
२.	जैन निबंध रत्नावली पर सम्मति (डॉ. ए. एन. उपाध्ये)	दो
३.	आत्म-निवेदन (पं. मिलापचन्द्र कटारिया एवं रतनलाल कटारिया)	तीन
४.	प्राक्कथन (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री)	छह
५.	मूलसंघ में पंचामृताभिषेक का अभाव (पं. मिलापचन्द्र कटारिया एवं रतनलाल कटारिया)	१
	* वरांगचरित	४
	* पद्मपुराण	६
	* हरिवंशपुराण	८
	* यशस्तिलक चम्पू	११
	* वसुनन्दि	१८
	* अभयनन्दि	२१
	* पूज्यपाद और गुणभद्र	२२
	* देवसेन	२२
	* मल्लिषेण	२३
	* वर्द्धमान कवि	२३
*	१. ब्रह्मसूरि २. एक संधि ३. सोमसेन	२४
	४. सावयधम्मदोहा ५. सकलकीर्ति ६. उमास्वामिश्रावकाचार	
	७. मण्डलाचार्य धर्माचार्य और कवि दामोदर ८. वामदेव	
	९. अर्यपार्य्य १०.इन्द्रनन्दि ११. नेमिचन्द्रकृत अभिषेकपाठ	
	१२.पं. उदयलालजी १३.गजांकुश १४.अभिषेक पाठ संग्रह	
	१५.शुभचन्द्रकृत सिद्धचक्राभिषेक १६.सकलभूषण १७.सिंहनन्दि	
	१८. ब्रह्मचारी नेमिदत्त १९. अकलंकदेव प्रतिष्ठापाठ	२९
	२०. श्रुतसागरसूरि	३०
६.	श्रावकाचारों में पंचामृताभिषेक (पं. श्री हीरालालजी)	३६
७.	आचार्य समयानुक्रमणिका (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-१ से)	४४

।। श्री वीतरागाय नमः।।

मूलसंघ में पंचामृताभिषेक का अभाव

श्री जिनभगवान की प्रतिमा का अभिषेक घृत–दुग्धादि पंचामृत से करने की रीति मूलसंघ–आम्नाय की नहीं है। मूलसंघ के प्रसिद्ध ग्रंथ आदिपुराण और उत्तरपुराण में कहीं पर भी पंचामृताभिषेक का उल्लेख नजर नहीं आता है। भगवज्जिनसेन के आदिपुराण में अनेक जगह पूजाओं का प्रसंग तथा श्रावकों के क्रियाकाण्ड का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। इतना होते भी जिनसेनाचार्य ने उसमें कहीं पर भी पंचामृत से अभिषेक करने का कथन नहीं किया है। इससे स्पष्टतः यही तथ्य प्रकट होता है कि इन जिनसेन महर्षि की गुरु–परम्परा में भगवान् का अभिषेक पंचामृत से किये जाने की पद्धति कतई नहीं थी।

राजा भरत को अशुभ स्वप्न आये थे। भगवान् से उनका अशुभ फल जानकर भरत ने शान्ति कर्म किया था। इसका वर्णन करते हुए आदिपुराण पर्व ४१ में लिखा है –

शान्तिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नारिष्टशान्तये।
जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः।।८५।।

गोदोहैः प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्षयः।
महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयीजनः।।८६।।

अर्थात् :– भरत ने खोटे स्वप्नोंरूप अरिष्ट (अशुभ–सूचक उत्पात) की शान्ति के लिए जिनेन्द्र का अभिषेक, सत्पात्रों को दान इत्यादि पुण्यकार्यों से शान्ति कर्म किया। तथा गायों को दुहाकर भूमि का सिंचन कराया, महर्षियों की पूजा की, बड़े बड़े दान दिये और प्रेमीजनों को संतुष्ट किया।

कुछ लोग यहाँ के ८६ वें श्लोक के प्रथम चरण – 'गोदोहैः प्लाविता धात्री' से दुग्ध से भगवान् का अभिषेक किया – अर्थ निकालते हैं, वह ठीक नहीं है। यहाँ आचार्य ने स्पष्ट 'धात्री' शब्द लिखकर यह व्यक्त किया है कि पृथ्वी पर दूध दुहाया गया था। साथ का 'गोदोहैः' वाक्य भी ध्यान देने योग्य है। इस वाक्य से ग्रंथकार का आशय यह है कि – गायों का दूध बर्तनों में नहीं दोहा गया था, किन्तु गायों को जमीन पर ही दोहा गया था। इसलिए उन्होंने 'गोदुग्धैः' वाक्य का प्रयोग न करके 'गोदोहैः' प्रयोग किया है। बात दरअसल यह है कि – अरिष्ट की शान्ति के लिए इस प्रकार की क्रिया की जाती है। यह क्रिया भरतजी ने उस वक्त जैनविधि के अनुसार की थी। ऐसी क्रिया वैदिकधर्म में भी वैदिक विधि से की जाती है। इसके लिए वाराही संहिता अध्याय ४६ का यह श्लोक देखिए

दिव्यमपि शममुपैति प्रभूतकनकान्नगोमहीदानैः ।
रुद्रायतने भूमौ गोदोहात् कोटिहोमाच्च ।।६।।

अर्थ :- शिवालय की भूमि में गोदोहन और कोटिहोम करने से, बहुतसा सुवर्ण, अन्न, गौ और पृथ्वी का दान करने से दिव्य उत्पात भी शान्त हो जाते हैं।

श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र अपने योगशास्त्रस्वोपज्ञ टीका के पृष्ठ ३२० पर लिखते हैं -

''भूमिगोदोह - करणात् रिष्ट शान्तिकमानिनाम् ।।''

पुष्पदंतकृत अपभ्रंशमहापुराण के पृष्ठ ४३१ में भी आदिपुराण के इसी कथन का छायानुवाद करते हुए लिखा है कि -

''भूमि दोहकय गोदुहसत्थहिं ।'' (सत्थहिं - सार्थैः समूहैः)

बहुत से ग्वालों ने भूमि पर गायों को दोहा, यह इसका अर्थ हुआ। यहाँ के 'गोदुह' शब्द का अर्थ टिप्पणी में ''गोदोहकाः'' किया है, जिसका मतलब होता है गायों को दोहने वाले गुवाले। (''गोप गोदुह बल्लवाः।'' त्रिकाण्ड शेषे)

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि – रिष्ट शान्ति के अर्थ ऐसी भी क्रिया होती है, जिसमें गायों को जमीन पर दोहकर दूध से जमीन तर की जाती है। इसी क्रिया का

उल्लेख आदिपुराण में किया गया है। उससे जिनप्रतिमा का दुग्धाभिषेक अर्थ निकालना गलत है। आदिपुराण के उक्त दोनों श्लोकों में दो क्रियाओं का वर्णन किया है। श्लोक नं. ८५ में तो शान्ति क्रिया का कथन किया है, जिसमें 'भगवान् का अभिषेक करने और सुपात्र को दान देना' आदि पुण्य कार्यों के करने को कहा है। और श्लोक नं. ८६ में दूसरी 'भूमि गोदोहन क्रिया' का कथन किया है। इस क्रिया में भूमि पर गोदूहन करने के साथ ही साथ महर्षियों को पूजा का पाठ करने, साधर्मियों को ठाड़े-ठाड़े दान देने और बांधवों को भोजनादि से तृप्त करने को कहा है। इस क्रिया के विषय में पुष्पदन्त ने बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। अतः अब किसी शंका को स्थान ही नहीं रहा है।

आदिपुराण पर्व ४० में जन्म संस्कार के मंत्रों का कथन करते हुए निम्न श्लोक लिखा है -

जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयं एतेनार्भकमादितः ।
सिद्धाभिषेकगन्धाम्बुसंसिक्तं शिरसि स्पृशेत् ।।११०।।

अर्थ :- प्रथम ही सिद्धप्रतिमा के अभिषेक के गन्धोदक से सिंचन किये हुए बालक के शिर पर जन्मसंस्कार के मंत्रों से स्पर्श करें।

इस श्लोक में आये 'सिद्धाभिषेकगन्धाम्बु' वाक्य से कोई-कोई कहते हैं कि जिनसेन ने जिनप्रतिमा का अभिषेक सुगंधित जल से करना बताया है। किन्तु इस वाक्य से गन्धाभिषेक अर्थ प्रकट नहीं होता है। क्योंकि यहाँ गन्ध शब्द अभिषेक के पूर्व में नहीं है; बाद में है। इसलिए यहाँ इसका फलितार्थ ऐसा है कि - जिस स्वाभाविक जल से भगवान् का अभिषेक किया गया है उस जल को यहाँ गन्धोदक नाम से बताया है। इसीके पर्व ३८, श्लोक ९९ में भी केशवाप क्रिया का वर्णन करते हुए लिखा है कि - ''केशों को गन्धोदक से गीला कर उनका मुण्डन करना चाहिए।'' भगवान् के शरीर में स्वाभाविक सुगंध होती है। अतः अभिषेक में उनके शरीर से स्पर्शित जल भी सुगंधित बन जाता है। इस भावना को लेकर अभिषेक में काम आया स्वच्छ स्वाभाविक जल भी भक्तों द्वारा गन्धोदक नाम से कहा जाता है। आचार्य जिनसेन ने भी इसी दृष्टि से यहाँ 'गन्धाम्बु' शब्द का प्रयोग किया है।

कोई कहे कि - ''जिनसेन ने पंचामृत से अभिषेक करना नहीं बताया तो शुद्ध

जल से अभिषेक करना भी तो उन्होंने नहीं लिखा है।'' इसका उत्तर यह है कि – अभिषेक का अर्थ है स्नान। स्नान जल से ही किया जाता है, यह आबाल–गोपाल प्रसिद्ध है। यही प्रसिद्ध अर्थ जिनसेन को इष्ट था, इसीलिए उन्होंने यत्र–तत्र सामान्य अभिषेक का प्रयोग किया है। यदि उन्हें अभिषेकार्थ दधि–दुग्धादि इष्ट होते तो वे विशेष शब्दों का प्रयोग कर सकते थे। और सर्वथा यह भी बात नहीं उन्होंने आदिपुराण में समवशरण के वर्णन में अभिषेक का कथन करते हुए जल का नाम भी दिया है –

हिरण्मयी जिनेन्द्रार्चास्तेषां बुध्नप्रतिष्ठिताः।
देवेन्द्राः पूजयन्ति स्म क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनैः ।।९८।। पर्व २२

अर्थ :- उन मानस्तम्भों के मूल में स्थित सुवर्णमयी जिनप्रतिमाओं को इन्द्रलोग क्षीरसागर के जल के अभिषेकों के साथ पूजते थे।

यहाँ कृत्रिम जिनबिम्बों का जल से अभिषेक करना लिखा है।

इस प्रकार आदिपुराण में न तो दुग्धाभिषेक लिखा है और न गन्धाभिषेक लिखा है, बल्कि जलाभिषेक लिखा है, यह सुस्पष्ट है।

वरांगचरित

जटासिंहनन्दिकृत यह वरांगचरित, जिनसेन के आदिपुराण से भी पहले का कथा ग्रंथ है। उसमें राजा वरांग ने एक नूतन जिन–मन्दिर का निर्माण कराके जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा कराई थी। उसके महोत्सव का वर्णन करते हुए पर्व २३ में लिखा है कि – प्रतिष्ठा में काम आनेवाली विविध सामग्री को लेकर अपनी रानियों और श्रावकों के साथ राजा वरांग बड़े जुलूस से जिनमन्दिर को गया। वहाँ जिनप्रतिमा का अभिषेकादि विधान किया गया, उसी प्रसंग में जिनप्रतिमा को आभूषण पहिनाना भी लिखा है। यथा –

सुवर्णपुष्पैर्विविधप्रकारै रत्नावलीभिस्तडिदुज्ज्वलाभिः ।
विभूषणानि प्रतिभूषयन्ती विभूषयामास तदा जिनार्चाम् ।।६७।।
- पर्व २३

अर्थ :- नाना प्रकार के सोने के बने पुष्पों से और बिजली की तरह चमकते हुए रत्नमयी हारों से उस समय जिनप्रतिमा को भूषित किया गया था। उन

आभूषणों से वह प्रतिमा भूषित न हुई, किन्तु प्रतिमा से उल्टे वे आभूषण ही भूषित हो उठे थे।

फिर आगे लिखा है कि राजा ने बहुत काल तक मन्दिर की स्थिति बनी रहने के लिए उस मन्दिर को १०८ गाँव आदि भेंट में दिये। इसी पर्व के श्लोक ७ में नान्दिमुख का भी उल्लेख है। इत्यादि कथनों से यही ज्ञात होता है कि यह प्रकरण प्रतिष्ठा विषय का है। मार्के की बात फिर भी यहाँ यह है कि इस प्रकरण में भी जिनप्रतिमा का अभिषेक स्वच्छ जल से ही करने का विधान किया है। इसके लिए इस पर्व के निम्न दो श्लोक देखिये –

पयोदधिक्षीरघृतादिपूर्णा फलाग्रपुष्पस्तबकाऽपिधाना ।
घटावली दामनिबद्धकण्ठा सुवर्णकारैर्लिखिता रराज ।।२५।।

अर्थ :- जिनके मुख फलों और पुष्पों के गुच्छों से ढके हुए हैं, मालाओं से जिनके गले बँधे हुए हैं और सुवर्णकारों के द्वारा जिनपर नक्कासी का काम किया हुआ है, ऐसे जल–दही–दूध–घृत से भरे कलश वहाँ शोभायमान हो रहे थे।

अष्टोत्तराः शीतजलैः प्रपूर्णाः सहस्रमात्राः कलशा विशालाः ।
पद्मोत्पलोत्फुल्लपिधानवक्त्रा जिनेन्द्रबिम्बस्नपनैककार्याः ।।२६।।

अर्थ :- वहाँ बड़े–बड़े एक हजार आठ कलश ऐसे भी थे जो शीतल जलों से भरे हुए थे और जिनके मुख फूले हुए नीलकमलों से ढँके हुए थे। वे कलश एकमात्र जिनप्रतिमा के अभिषेक के ही काम में आने के लिए थे।

इस कथन से साफ जाहिर होता है कि ग्रंथकार ने यहाँ जिनप्रतिमा के अभिषेक के लिए खास तौर से उन्हीं कलशों को बताया है जिनमें शीतल जल भरा हुआ था। और जो दुग्धादि से भरे हुए कलश थे वे किसी अन्य ही काम के वास्ते थे। फिर आगे जब अभिषेक किया गया तो श्लोक ६५ में साफ लिख दिया है कि – ''स्वच्छ जल से भरे कलशों से भगवान् का अभिषेक किया गया।'' इस प्रकार जटासिंहनन्दिकृत वरांगचरित से पंचामृताभिषेक की कुछ भी सिद्धि नहीं होकर उल्टे जलाभिषेक की ही सिद्धि होती है।

पद्मपुराण

रविषेण का बनाया हुआ संस्कृत का पद्मपुराण एक प्राचीन कथा-ग्रंथ है। इसमें पंचामृताभिषेक का विधान है। किन्तु यह पुराण मूलसंघ का नहीं है। क्योंकि जिस प्राकृत पउमचरिय के आधार पर इसकी रचना हुई है वह पउमचरिय मूलसंघ का नहीं है, तो उसकी प्रायः छाया को लेकर बना हुआ यह पद्मपुराण भी मूलसंघ का कैसे हो सकता है? इसीलिए इसके बहुतसे वृत्तान्त मूलसंघ के ग्रंथों से नहीं मिलते हैं। पउमचरिय के विषय में चर्चा इस लेख में आगे की गयी है।

यह तो विदित ही है कि - मूलसंघ के प्रसिद्ध आचार्य गुणभद्र कृत उत्तरपुराण में लिखी रामकथा से रविषेण की रामकथा नहीं मिलती है। इसे भी छोड़िए, अन्य भी त्रेसठशलाकापुरुषों की कथाएँ जो जिनसेन-गुणभद्र ने लिखी हैं, उनमें की कितनी ही कथाओं से भी रविषेण की लिखी कथाएँ भिन्न रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरण के तौर पर यहाँ हम पद्मपुराण और उत्तरपुराण की भिन्न कथाओं के कुछ नमूने पेश करते हैं -

दोनों ही पुराणों में सगर चक्रवर्ती के पूर्वभव लिखे हैं, परन्तु वे एक-दूसरे से बिल्कुल ही नहीं मिलते हैं। इसके अलावा पद्मपुराण में सगर के ६० हजार पुत्रों में से दो को छोड़ बाकी सबों का नागकुमार देव के कोप से भस्म हो जाना लिखा है। किन्तु उत्तरपुराण में इन सब पुत्रों का मोक्षगमन बताया है।

संजयन्त मुनि की कथा भी दोनों पुराणों में एकसमान नहीं है। पद्मपुराण में यह कथा ५ वें पर्व में और उत्तरपुराण में ५९ वें पर्व में लिखी है, वहाँ देखिए।

पद्मपुराण पर्व ८ में हरिषेण चक्रवर्ती को काम्पिल्यनगर के राजा सिंहध्वज और राणी वप्रा का पुत्र बताया है और उसकी मोक्षगति लिखी है ; जबकि उत्तरपुराण पर्व ६७ में हरिषेण को भोगपुर के राजा पद्मनाभ और रानी ऐरा का पुत्र लिखा है और उसे सर्वार्थसिद्धि गया बताया है।

पद्मपुराण पर्व २० में मघवा चक्रवर्ती को सौधर्म स्वर्ग गया बताया है; जबकि उत्तरपुराण में उसकी मोक्षगति लिखी है। इसी तरह सनत्कुमार चक्री की गति पद्मपुराण

में तीसरा स्वर्ग लिखी है और उत्तरपुराण में उसकी मोक्षगति लिखी है। उत्तरपुराण में सुभौम चक्री को महाशुक्र स्वर्ग से आया लिखा है; जबकि पद्मपुराण पर्व २० में उसे जयन्त विमान से आया लिखा है। सुभौम चक्री नरक गया है। जयन्त विमान से आनेवाला नरक नहीं जा सकता है। अतः पद्मपुराण का कथन अयुक्त है। विष्णुकुमार मुनि की कथा में हस्तिनापुर के राजा महापद्म ने अपने पुत्र विष्णुकुमार के साथ दीक्षा ली थी। इस महापद्म को पद्मपुराण पर्व २० में चक्रवर्ती लिखा है। उत्तरपुराण में इसे चक्रवर्ती नहीं बताया है। इसके अलावा पद्मपुराण में एक मजेदार बात यह लिखी है कि –

''एक बार भरत चक्री मुनियों के अर्थ उद्देश्य से बनाया हुआ भोजन लेकर समवशरण में गया और वहाँ मुनियों को भोजन जीमने के लिए प्रार्थना करने लगा। तब भगवान् ऋषभदेव ने कहा, 'हे भरत! मुनि लोग उद्दिष्ट भोजन नहीं लेते हैं। और न तेरी ऐसी रीति ही मुनियों को आहार देने की है।'' यह वर्णन पद्मपुराण पर्व ४, श्लोक ९१ आदि में है। पद्मपुराण के इस कथन के पढ़ने वालों को हँसी आये बिना न रहेगी कि क्या भरतजी को इतना भी बोध नहीं था जो वे मुनियों को जिमाने के लिए भोजन–सामग्री लेकर समवशरण में ही पहुँच जावें। जबकि श्रेयांस के द्वारा दिये गये मुनिदान को वे अच्छी तरह जान चुके थे। बात वास्तव में कुछ ऐसी जँचती है कि जिस पउमचरिय से यह वृत्तान्त नकल किया गया है उस पउमचरिय के बनानेवाले का ऐसा सम्प्रदाय होगा जिसमें केवली भगवान् आहार ग्रहण करते हैं। आहार वे समवशरण में भी जीमते होंगे इस कथा से यही सम्भावना प्रकट होती है। और इसीलिए भरतजी के संबंध में ऐसी कथा लिखी गयी है कि वे भोजन लेकर समवशरण में पहुँच गये।

इसी तरह निर्वासित अंजना जब सखी के साथ वन में घूमती हुई गुफा में पहुँची उस प्रसंग में पद्मपुराण पर्व १७, श्लोक २६८ में ''गंधर्व देव ने मद्यपान किया'' लिखा है। देव तो मद्यपान क्या, दूसरा पेय भी नहीं पी सकते हैं, क्योंकि उनके मानसिक आहार होता है। फिर यहाँ ऐसा कैसे लिखा?

इसी प्रकार भगवान् महावीर का सौधर्मेन्द्र की शंका निवारणार्थ अपने अँगूठे से मेरु को कम्पित करना (पर्व २, श्लोक ७६)। युगलिया से हरिवंश की उत्पत्ति बताना

(पर्व २१ वां)। देशभूषण-कुलभूषण केवलीद्वय का एक साथ चलना, दोनों का एक ही स्थान पर बैठना, दोनों के साथ ही केवलज्ञान होना। राम और कृष्ण के ६४ हजार वर्षों का अन्तर बतलाना (पर्व १०९, श्लोक २८)। श्री रामचंद्रजी के शरीर का न्यग्रोधपरिमण्डल नाम का संस्थान बताना। इत्यादि अनेक अमान्य कथनों को देखने से कहना पड़ता है कि रविषेण कृत पद्मपुराण ग्रंथ मूलसंघ का नहीं है। आधुनिक भट्टारक इन्द्रनन्दि तक ने रविषेण को प्रामाणिक आचार्य नहीं माना है। उन्होंने नीतिसार ग्रंथ में जहाँ प्रामाणिक आचार्यों की सूची लिखी है उसमें रविषेण का नाम नहीं दिया है। तथा आशाधरजी ने भी अपने ग्रंथों की स्वोपज्ञ टीकाओं में ग्रंथांतरों के प्रचुर पद्य 'उक्तं च' रूप से प्रस्तुत किये हैं उनमें जिनसेन के आदिपुराण के तो अनेक उद्धरण देते हैं, परन्तु पद्मपुराण का एक भी उद्धरण नहीं देते हैं। और प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय २ में आशाधरजी ने ''महर्षिपर्युपासन'' लिखा है उसमें वे वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि अनेक आचार्यों के नाम तो लिखते हैं, किन्तु रविषेण का उल्लेख नहीं करते हैं। इससे साफ विदित होता है कि पं. आशाधरजी की दृष्टि में भी रविषेण की गणना मान्य आचार्यों में नहीं थी। ऐसी हालत में पद्मपुराण में पंचामृताभिषेक का विधान पाया जाना मानने योग्य नहीं है।

हरिवंशपुराण

इस पुराण के कर्ता जिनसेन हैं। ये जिनसेन आदिपुराण के कर्ता जिनसेन से भिन्न हैं और उनके समय में ये भी हुए हैं। इस हरिवंश पुराण में भी पंचामृताभिषेक का उल्लेख है। ये जिनसेन भी मूलसंघी नहीं हैं। ये तो खुद ही अपने को पुन्नाटसंघी लिखते हैं। पुन्नाटसंघ काष्ठासंघ का ही एक उपभेद है। काष्ठासंघ की गणना जैनाभासों में की जाती है। काष्ठासंघ में चार गच्छ हैं – माथुरगच्छ, बागड़गच्छ, लाड़बागड़गच्छ और नन्दितट गच्छ। 'भट्टारक सम्प्रदाय' पुस्तक के पृ. २५७ में लिखा है कि –'लाड़बागड़ गच्छ के आचार्य पहले पुन्नाट अर्थात् कर्नाटक प्रदेश में विहार करते थे, इसलिए इसका नाम पुन्नाट था। बाद में उनका प्रमुख कार्यक्षेत्र लाड़बागड़ अर्थात् गुजरात प्रदेश हुआ इसलिए इसका नाम लाड़बागड़ गच्छ पड़ा। इसीका संस्कृत रूप लाटवर्गट है।' भट्टारक सम्प्रदाय के लेखांक नं. ६३१ में जो पट्टावली का संस्कृत उद्धरण दिया है उससे प्रकट

होता है कि पुन्नाटगच्छ का ही नामान्तर लाटवर्गट गच्छ है। 'सूरत और उस जिले के मूर्तिलेख संग्रह' नाम की पुस्तक के पृ. ७४ पर नन्दितटगच्छ की पट्टावली छपी है, उसमें भी काष्ठासंघ के चार गच्छों में पुन्नाट गच्छ का नाम लिखा है। जैनशिलालेख संग्रह भाग २, पृष्ठ १३७ में जिन अर्ककीर्ति मुनि को शक सं. ७३५ में ग्राम दान में दिया है उनको यापनीय –नन्दिसंघ पुंनागवृक्ष मूलगण का बताया है। सम्भवतः पुंनागवृक्ष मूलगण का ही रूपांतर पुन्नाट संघ है। इस उल्लेख से पुन्नाट संघ यापनीय संघ का कोई उपभेद भी हो सकता है। यह तो सब जानते ही हैं कि – यापनीय संघ, काष्ठासंघ, द्राविड़संघ आदि जैनाभास माने जाते हैं। हरिवंशपुराण में जिनसेन ने इन तीनों ही संघों के आचार्यों का स्मरण किया है। द्राविड़संघ के स्थापक वज्रसूरि, काष्ठासंघ के प्रवर्तक कुमारसेन और यापनीय संघ के आचार्य विशेषवादी इन तीनों का ही स्मरण हरिवंशपुराण में किया है। यापनीयसंघ के आचार्य शाकटायन अपने एक सूत्र में कहते हैं कि –

''उपविशेषवादिनं कवयः'' सारे कवि विशेषवादी से नीचे हैं। शाकटायन के इस कथन से सिद्ध होता है कि ''विशेषवादी'' यापनीय थे जिनका स्मरण हरिवंशपुराण में किया गया है। इन जैनाभासों का स्मरण करने से यही फलितार्थ निकलता है कि हरिवंशपुराण के कर्ता को ये आचार्य मान्य थे। और स्वयं भी वे इन जैनाभासों में से कोई थे। ऐसी हालत में हरिवंशपुराण में लिखा पंचामृताभिषेक का कथन मूलसंघ आम्नाय का नहीं हो सकता। यही नहीं, अन्य भी कई एक वर्णन हरिवंशपुराण के मानने योग्य नहीं हैं। जैसे पउमचरिय और पद्मपुराण में भगवान् के गर्भकल्याणक में देवों का आगमन नहीं लिखा है। ऐसे ही हरिवंशपुराण में भी महावीर, ऋषभदेव, मुनिसुव्रत और नेमिनाथ का चरित्र लिखते हुए कहीं भी गर्भकल्याणक में देवों का आगमन नहीं लिखा है। हरिवंशपुराण सर्ग ६५ में लिखा है कि – ''बलदेव मरकर ब्रह्मस्वर्ग गया, वहाँ अवधिज्ञान से उसने जाना कि मेरा भाई कृष्ण नरक में गया है। अतः उसे लाने के लिए वह नरक में जाकर कृष्ण के जीव को वहाँ से उठाकर लाने लगा, पर वह उसे ला न सका। तब कृष्ण के जीव के कहने से बलदेव के जीव ने भरतक्षेत्र में अपनी और कृष्ण की मूर्ति की पूजा का प्रचार लोगों में करवाया।'' हरिवंशपुराण का यह कथन कुछ ठीक नहीं मालूम होता है। जिसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया है ऐसा कृष्ण का जीव भी

सम्यग्दृष्टि था और ब्रह्म स्वर्ग का इन्द्र बलदेव का जीव भी सम्यग्दृष्टि था। ऐसे दोनों ही सम्यग्दृष्टियों ने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने को ऐसा मिथ्यातत्त्व का प्रचार किया यह बात बुद्धि में बैठने जैसी नहीं है।

इसी पुराण के सर्ग १८ श्लोक १६४ आदि में वसुदेव के पूर्व भवों का वर्णन करते हुए लिखा है कि – ''सौधर्मेन्द्र ने नन्दिषेण मुनि के वैयावृत्त्य की बहुत प्रशंसा की, जिसे सुनकर उनकी परीक्षा के लिए एक देव रोगी मुनि का वेष बनाकर नन्दिषेण मुनि के पास आया। नन्दिषेण ने उस मुनि को देखकर उससे पूछा कि तुम्हारी इच्छा कौनसा भोजन करने की है? उत्तर में मुनिरूप धारी देव ने कहा कि – पूर्व देश के चावलों का सुगंधित भात, पांचाल देश की मूँग की स्वादिष्ट दाल, पश्चिम देश की गायों का तपाया हुआ घृत, कलिंग देश की गायों का मधुर दूध और नाना प्रकार के व्यंजन इन सब के खाने की मेरी इच्छा है। यह सुन नन्दिषेण मुनि ने वह सब उक्त आहार लाकर गोचरी बेला में उस कृत्रिम मुनि को दे दिया।'' इसी सर्ग के श्लोक १३८ में लिखा है कि –उन नन्दिषेण मुनि को बड़ी बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उन सिद्धियों के प्रभाव से वैयावृत्त्य में काम आनेवाली वस्तुएँ जो चाहते वे उन्हें प्राप्त हो जाया करती थीं ।

मुनियों के आचार–शास्त्रों में निर्ग्रन्थ मुनियों की जैसी कुछ चर्या लिखी है उसकी संगति इस कथा से कैसे बैठ सकेगी यह एक सोचने की चीज है। नवकोटि से विशुद्ध आहार लेनेवाले जैन मुनि के लिए क्या ऐसा करना योग्य कहा जा सकता है? क्या इसमें उद्दिष्ट दोष नहीं आता? और क्या कोई जैन मुनि इच्छानुसार भोजन पाने की बात कह सकते हैं? इस कथा से तो ऐसा जाहिर होता है कि रोगी मुनि चाहे कितना ही आचारहीन क्यों न हो, तब भी उसकी वैयावृत्त्य करनी। और वैयावृत्त्य करनेवाले मुनि को भी यह छूट हो जाती है कि वह भी इस वैयावृत्त्य के काम में जो चाहे सो कर ले– उसे आचार–शास्त्र के नियमों के पालने की भी जरूरत नहीं है। चाहिए तो यह कि रोगी मुनि अपना चरित्र अधिक से अधिक निर्दोष बनावे, ताकि रुग्णावस्था में न जाने कब प्राण छूट जावें तो उसका असंयम अवस्था में मरण न होने पावे। किन्तु हरिवंशपुराण में इस कथा के द्वारा उल्टा उपदेश दिया गया है।

यह एक शास्त्रप्रसिद्ध बात है कि – पदवीधारी नारद सब नरक में जाते हैं। किन्तु

इसके पर्व ६५, श्लोक २४ में नारद को मोक्ष गया लिखा है। श्वेताम्बर मत में भी नारद की मोक्षगति लिखी है।

हरिवंशपुराण में यह भी लिखा है कि – बाहुबली केवलज्ञानी हुए बाद भगवान् ऋषभदेव के समवशरण में जा वहाँ के सभासद हुए। देखो, सर्ग ११, श्लोक १०२ वाँ और सर्ग १२, श्लोक ३८ वाँ।

इत्यादि कथनों से हरिवंशपुराण मूलसंघ का ग्रंथ मालूम नहीं होता है इसीसे भट्टारक इन्द्रनन्दि ने रविषेण की तरह इन जिनसेन का भी नाम प्रामाणिक आचार्यों की लिस्ट में नहीं दिया है और आशाधर ने भी इनका कहीं कोई उद्धरण नहीं दिया है।

यशस्तिलक चम्पू

श्री सोमदेव का बनाया यह एक चम्पूग्रंथ है। यह ग्रंथ वि. सं. १०१६ में बना है। इसके उत्तरखण्ड में श्रावकाचार का कथन है। उसमें जिनाभिषेक की विधि का वर्णन करते हुए पंचामृत से अभिषेक करना बताया है। इसके कर्ता सोमदेव भी मूलसंघ के मालूम नहीं होते हैं। परमार्थतः वे कोई शायद यथार्थ मुनि भी नहीं थे। हमारे यहाँ मध्यकाल में ऐसे कुछ गृहत्यागी साधुओं का समुदाय हो चुका है जो भट्टारक कहलाते थे। वे चादर ओढ़ते थे, पालकी, छत्र, चामरादि का उपयोग करते थे। कूवाँ, खेत आदि जागीरें रखते थे, मन्त्र-तन्त्र, चिकित्सा आदि करते थे, मठ-मन्दिर में रहते थे और प्रतिष्ठा आदि कार्य करते थे। वे राजाओं की तरह श्रावक-गृहस्थों पर शासन करते हुए बड़े ठाठ-बाट से रहते थे। वे सब ठाठ-बाट उनके बाद उनके पट्टाधिकारी शिष्यों को मिलता था। इसलिए राज्यसिंहासन की तरह उनकी गद्दियों के भी उत्तराधिकारी बनते थे। इतना होते हुए भी ये भट्टारक अपने को मूलसंघी कहते हुए मुनि, यति, मुनीन्द्र, आचार्य आदि नामों से पुकारे जाते थे। क्योंकि इस पद को ग्रहण करते हुए प्रारंभ में ये नग्न होकर ही दीक्षा लेते थे। उपरान्त हीन संहनन और तत्काल पंचों की आज्ञा की आड़ लेकर वस्त्रादि धारण कर लेते थे। सुनते हैं, आहार भी वे नग्न होकर ही लेते थे। पीछी-कमण्डलु रखकर श्वेताम्बर यतियों से अपनी भिन्नता व्यक्त करते थे। इनमें से कोई कोई भट्टारक नग्न भी रहते थे। और नग्न रहकर भी पालकी आदि का उपयोग करते हुए दूसरे सब ठाठ उनके सवस्त्र भट्टारकों जैसे ही रहते थे। यह बात श्वेताम्बरों के साथ

जो कुमुदचन्द्र का शास्त्रार्थ हुआ था उससे प्रकट होती है। यह शास्त्रार्थ वि. सं. ११८१ में गुजरात के राजा सिद्धराज की सभा में श्वेताम्बर यति देवसूरि के साथ दिगम्बर भट्टारक कुमुदचन्द्र ने किया था। उस शास्त्रार्थ का हाल बताते हुए श्वेताम्बरों ने कुमुदचन्द्र के बाबत लिखा है – ''वे पालकी पर बैठे थे, उनपर छत्र लगा हुआ था और वे नग्न थे।'' पहले पहले इस प्रकार के भट्टारक नग्न ही रहते होंगे। वस्त्रधारण सम्भवतः बाद में चला हो। इसके भी पहले कुछ ऐसे मुनि भी विचरते थे जो वस्त्र, पालकी, छत्र, चामरादि का उपयोग तो अपने लिए नहीं करते थे। किन्तु जागीरी रखना, मन्त्र–तन्त्र, चिकित्सा करना, मठ–मन्दिर में आराम से रहना और उनका प्रबन्ध करना, राजसभाओं में जाना और राजाओं द्वारा सम्मान पाने की आशा से उनको प्रभावित करना आदि चरित्र उनका भी था। ये साधु महर्षि कुन्दकुन्द की बताई हुई मुनिचर्या का पालन पूर्णरूप से नहीं करते हुए भी उनके अन्य सिद्धांतों को प्रायः मान्यता देने से अपने को मूलसंघी ही कहते थे। ऐसे साधुओं ने मुनिचर्या के साथ साथ श्रावकों की पूजापद्धति को भी विकृत किया है। जो पूजापद्धति अल्पसावद्यमय, वीतरागता की द्योतक और निरर्थक आडम्बरों से मुक्त होनी चाहिए थी, उनके स्थान में इन्होंने उसे बहुसावद्यमय व सरागता की पोषक बनाकर उसमें व्यर्थ के आडम्बर भर दिये। दही, दूध, घृतादि खाने के पदार्थों को स्नान के काम में लेना, मिट्टी, गोबर, राख से भगवान् की आरती करना, ये व्यर्थ के आडम्बर नहीं तो क्या है? जब से मन्दिरों पर इन भट्टारकों के अधिकार हुए हैं तभी से पूजापद्धति में ये आडम्बर बढ़े हैं। इस प्रकार के विधान सोमदेव ने भी यशस्तिलक में लिखे हैं। अतः इन सोमदेव की गणना भी ऐसे ही नग्न भट्टारकों में की जा सकती है। इनको जैन मन्दिर की स्थिति बनाये रखने के लिए राजा अरिकेसरी ने एक ग्राम भी दान दिया था। इस दान के ताम्रपत्र की प्रतिलिपि श्री. पं. नाथूरामजी प्रेमी कृत ''जैन साहित्य और इतिहास'' नामक ग्रंथ के पृ. १९३ पर छपी है। अगर ये सोमदेव शास्त्रोक्त जैन मुनि होते तो न तो इनको ग्राम दान में दिया जाता और न ये उसे स्वीकार ही करते। तिलतुष मात्र का भी प्रसंग न रखनेवाले और अहर्निश ज्ञान–ध्यान–तप में लवलीन रहनेवाले दिगम्बर जैन ऋषियों को इस प्रकार के दानों से कोई प्रयोजन नहीं है। इन्हीं सोमदेव ने एक 'नीतिवाक्यामृत' नामक ग्रंथ भी बनाया है। वह ग्रंथ संस्कृत गद्यसूत्रों में रचा गया है। उसकी टीका में अनेक ब्राह्मण ग्रंथों

के उद्धरण दिये गये हैं। जो बातें सूत्रों में कही गयी हैं वे ही बातें टीका में दिये उद्धरणों में हैं। इससे सहज ही ज्ञात होता है कि – सोमदेव ने यह ग्रंथ ब्राह्मण ग्रंथों के आधार पर बनाया है। जैन धर्म से इस ग्रंथ का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे जैन ग्रंथ कहना ही नहीं चाहिए। इसीलिए इसकी टीका भी किसी अजैन विद्वान् ने की है। मूल ग्रंथ के कुछ नमूने देखिए –

''औरसः क्षेत्रजो दत्तः कृत्रिमो गूढोत्पन्नोऽपविद्ध ऐते
षट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च ।।४१।।'' -प्रकीर्णक समुद्देश।

इसमें लिखा है कि औरस आदि ६ पुत्र पैतृक धन के और पिण्डदान के अधिकारी होते हैं। (यहाँ पिण्डदान वैदिक रीति को बताता है।)

''सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मोपासनं यायात् ।।७३।।''
-''दिवसानुष्ठान समुद्देश''

अर्थ :- बछड़ेवाली गाय की परिक्रमा देकर धर्मोपासन को जावे।

(यहाँ गाय की पूज्यता बताई है।)

''यः खलु यथाविधि जानपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ।।२२।।'' -''विवाहसमुद्देश''

अर्थ :- जो विधिपूर्वक ग्राम्य भोजन और सांसारिक व्यवहार को त्याग कर स्त्रीसहित या स्त्रीरहित वन में रहता है वह वानप्रस्थ कहलाता है। वन में वहाँ वह ग्राम्य भोजन को छोड़ जंगली फल–फूल खाता है।

(वानप्रस्थ का यह स्वरूप जैन शास्त्र सम्मत नहीं है।)

इस प्रकार के कथन एक मान्य जैनाचार्य की कलम से लिखे जाने के योग्य नहीं हैं। क्योंकि सत्य महाव्रत का धारी जैनमुनि जिसके लिए जैनशास्त्रों में अनुवीचिभाषण यानी सूत्रानुसार बोलने की आज्ञा दी है – वह, इस प्रकार का सूत्रविरुद्ध वचन मुँह से भी नहीं बोल सकता है तब ऐसी साहित्यिक रचना तो भला वह कर ही कैसे सकता है? यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि सोमदेव ने इस नीतिवाक्यामृत ग्रंथ की प्रशस्ति में यशस्तिलक का उल्लेख किया है। इसलिए यशस्तिलक की रचना के बाद नीतिवाक्यामृत की रचना हुई है। अतः सोमदेव की प्रामाणिकता जब नीतिवाक्यामृत

के निर्माण के वक्त ही नहीं रही तो उसके पहले यशस्तिलक के निर्माण के वक्त कैसे हो सकती है?

सोमदेव ने आधुनिक मुनियों के बाबत जो उद्‌गार प्रकट किये हैं वे भी विचारणीय हैं। वे लिखते हैं –

यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् ।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः सम्प्रति संयताः ।।१ ।।
भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्‌ध्यति ।।२ ।।
सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः ।
बहुधाऽस्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ।।३ ।।

अर्थ :- जैसे लेप, पाषाणादि में बनाया हुआ अर्हंतों का रूप पूज्य है, वैसे ही वर्तमान काल के मुनि भी पूजनीय हैं। (चाहे वे आचारभ्रष्ट ही हों) क्योंकि बाहर में उनका रूप भी वही है जो प्राचीनकाल के मुनियों का था।

भोजनमात्र देने में तपस्वियों की क्या परीक्षा करनी? वे अच्छे हों या बुरे, गृहस्थ तो दान देने से ही शुद्ध हो जाता है।

गृहस्थ लोग अनेक आरम्भ करते रहते हैं, जिनमें उनका बहुत प्रकार से धन खर्च होता रहता है। अतः साधुओं को आहार देने में उन्हें सोच–विचार नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार सोमदेव ने आचारहीन मुनियों को मानने की प्रेरणा की है। सोमदेव के वक्त भी ऐसे सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ श्रावक थे जो परीक्षा करके देव–शास्त्र–गुरुओं को मानते–पूजते थे। यहाँ तक कि शिथिलाचारी जैन मुनियों को आहारादि देने में भी संकोच करते थे। उन्हींको लक्ष्य में रखकर सोमदेव ने ऐसी बातें कही हैं। सोमदेव ने जो इस विषय में दलीलें दी हैं वे सब निःसार हैं। प्रथम श्लोक में हेतु दिया है कि – "**जैसे पाषाणादि में अंकित जिनेन्द्र की आकृति पूजनीय है उसी तरह वर्तमान के मुनियों की आकृति भी पूर्व मुनियों जैसी होने से वह भी पूजनीय है।**" सोमदेव का ऐसा लिखना ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ जो दृष्टान्त दिया है वह विषम है। पाषाणादि में अंकित जिनेन्द्र की

आकृति की तरह पाषाणादि में अंकित मुनि की आकृति भी पूजनीय है ऐसा लिखा जाता तो दृष्टान्त बराबर बन जाता और वह ठीक माना जा सकता था। किन्तु यहाँ अचेतन से सचेतन की तुलना की गयी है, इसलिए दृष्टान्त मिलता नहीं है। प्रत्युत उल्टे यह कहा जा सकता है कि – जैसे सचेतन किसी पुरुष–विशेष को जिनेन्द्र की आकृति बनाकर उसे पूजना अनुचित है, उसी तरह सचेतन पुरुष–विशेष में केवल मुनि की आकृति देखकर –मुनि जैसे उसमें गुण न हों तब भी उसे पूजना अनुचित है। प्रथा भी ऐसी ही है कि –जैनी लोग पार्श्वनाथजी की मूर्ति को तो पूजेंगे, परन्तु किसी आदमी को पार्श्वनाथ मानकर नहीं पूजेंगे। लोक में भी यह देखा जाता है कि –किसी देश के राजा की मूर्ति बनाकर सम्मान करें तो राजा उसपर खुश होता है। किन्तु किसी अन्य ही पुरुष को उस देश का राजा मानकर उसका सम्मान करें तो वे राजा द्वारा दण्डनीय होते हैं। इस तथ्य के विपरीत लिखकर सचमुच ही सोमदेव ने बड़ा अनर्थ किया है। इन्हीं सोमदेव ने इसी ग्रंथ के ''शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः।'' इस श्लोक ४८१ में कहा है कि –किसी शुद्ध वस्तु में परवस्तु का संकल्प होता है। जैसे कन्या में पत्नी का संकल्प। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान के अशुद्ध मुनियों में पूर्व मुनियों का संकल्प भी नहीं हो सकता। इस तरह सोमदेव का कथन पूर्वापर–विरुद्ध है।

दूसरे श्लोक में सोमदेव ने कहा है कि –''अच्छा हो या बुरा, कैसा भी साधु हो, गृहस्थ को तो दान देने से मतलब है। दान का फल तो अच्छा ही लगेगा, गृहस्थ तो दान देने मात्र से ही शुद्ध हो जाता है।'' ऐसा लिखना भी ठीक नहीं है। अगर ऐसा ही हो तो अन्य जैन शास्त्रों में सत्पात्र और असत्पात्र का विचार क्यों किया गया है? और क्यों कुपात्र को दान देने का निषेध किया है? अमितगति श्रावकाचार परिच्छेद १० में लिखा है कि –

जैसे कच्चे घड़े में जल का भरना बेकार है, उसी तरह कुपात्र को दान देना निष्फल है। (श्लोक ५१) जैसे सर्प को दूध पिलाना विष का उत्पादक है, उसी तरह कुपात्र को दान देना दोषों का उत्पादक है। (श्लोक ५३) असंयमी को दान देकर पुण्य चाहना वैसा ही है जैसे जलती अग्नि में बीज डालकर धान्य होने की वांछा करना। (श्लोक ५४) कड़वी तुंबी में रखे दूध की तरह कुपात्र में दिया दान किसी काम का नहीं

रहता है। (श्लोक ५६) लोहे की बनी नाव की तरह कुपात्रदानी संसारसमुद्र से नहीं तिर सकता है। (श्लोक ५७) जो अविवेकी फल की इच्छा से कुपात्रों को दान देता है वह मानो वन में चोरों के हाथों में धन देकर उनसे उस धन के पुनः मिलने की आशा करता है। (श्लोक ६०) अपात्र दान का फल पाप के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। बालू रेत के पेलने से खेद के सिवा और क्या फल मिल सकता है ? (११ वाँ परिच्छेद, श्लोक ९०)

तत्त्वार्थसूत्र में भी '**विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः**' इस सूत्र में बताया है कि – जैसा–जैसा द्रव्य, विधि, दाता और पात्र होगा वैसा–वैसा ही उसका फल मिलेगा।

श्लोक ३ में सोमदेव ने लिखा है कि –''**यों भी गृहस्थ के अनेक खर्च होते रहते हैं। तब साधु को भोजन जिमाने में क्यों सोचविचार करना?**'' ऐसा लिखना भी योग्य नहीं है। साधारण आदमी को भोजन जिमाने और जैन मुनि को भोजन जिमाने में बड़ा अन्तर है। जैन मुनि को पूज्य गुरु मानकर जिमाया जाता है और जिमाने के पूर्व नवधा भक्ति की जाती है। इसलिए यहाँ सवाल आर्थिक खर्च का नहीं आता, पूज्य–अपूज्य का आता है। एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ आचारहीन मुनि की पूजा–वन्दना कैसे कर सकता है? क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने दर्शनपाहुड़ में ऐसा कहा है–

असंजदं ण वंदे वत्थविहीणो वि सो ण वंदिज्ज ।
दोण्णिवि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि।।२६।।

अर्थ :- जो सकलसंयमी नहीं है, गृहस्थ है उसकी वन्दना न करें। और जो वस्त्र त्यागकर नग्न साधु बन गया है, परन्तु सकल संयम का पालन नहीं करता है वह भी वन्दने योग्य नहीं है। दोनों ही यानी गृहस्थ और मुनिवेषी एक समान हैं। दोनों में एक भी संयमी–महाव्रती नहीं है। भावार्थ –गृहस्थ तो वैसे ही वन्दनायोग्य नहीं है, किन्तु वह मुनि भी वन्दनायोग्य नहीं है जो नग्नलिंग धारण करके सकल संयम की विराधना करता है।

यहाँपर आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने शिथिलाचारी मुनियों की वन्दना तक न करने का आदेश दिया है। तब एक सम्यग्दृष्टि ऐसे श्रमणाभासों की नवधा भक्ति तो कर ही कैसे सकता है? नवधा भक्ति में तो वन्दना के साथ पूजा भी करनी होती है और चरण धोकर उनका चरणोदक भी मस्तक पर चढ़ाना पड़ता है।

जहाँ सोमदेव ने ''**यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां**'' श्लोक कहकर केवल मुनि के वेषमात्र को ही पूजनीय बताया है वहाँ कुन्दकुन्द ने उसका निषेध किया है। कुन्दकुन्द का कहना है कि –मुनिजन उसी हालत में पूजनीय हैं जबकि वे मुनि के चरित्र का यथावत् पालन करते हों। इस तरह सोमदेव और कुन्दकुन्द के उपदेश में बहुत बड़ा अंतर है। सोमदेव ने तो जो नामनिक्षेप से मुनि हो उसे भी मानने को कहा है।

उन्होंने यशस्तिलक में लिखा है कि -

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ।।
एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम्।

अर्थ :- चित्त जहाँ चंचल रहता है और शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है, ऐसे कलिकाल में आज जिनलिंग के धारी मुनियों का दिखाई देना आश्चर्य है। इस काल में शास्त्रोक्त चरित्र के धारी मुनि कोई एक हो तो हो, वर्ना नहीं ही हैं।

सोमदेव ने ऐसा लिखकर अपने समय में यथार्थ मुनियों को अलभ्य बताया है, इसलिए इस कलिकाल में जैसा भी जैन मुनि मिल जावे उसीको मान लेना चाहिए ऐसा आदेश दिया है। मतलब कि किसी देश में हंस नहीं हो तो काग को ही हंस मान लेना चाहिए ऐसा सोमदेव का कथन है। किन्तु इस काल में यथार्थ मुनियों का मिलना अलभ्य ही हो ऐसा भी सर्वथा नहीं है। सोमदेव के वक्त भी श्रेष्ठ मुनियों का सद्भाव था। देवसेन ने वि. सं. ९६० में दर्शनसार ग्रंथ बनाया और सोमदेव ने वि. सं. १०१६ में यशस्तिलक बनाया। इससे देवसेन भी सोमदेव के वक्त हुए हैं। और इसी काल में गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र और उनके सहवर्ती वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि और माधवचन्द्र हुए हैं। ये सब माननीय आचार्य सोमदेव के समय के लगभग ही हुए हैं। इतना होते हुए भी सोमदेव ने जो उस वक्त के मुनियों के अस्तित्व में आश्चर्य प्रकट किया है और यथार्थ मुनियों को अलभ्य बताया है। उससे ऐसा झलकता है कि –सोमदेव स्वयं यथार्थ मुनि नहीं थे और न उनमें इतना साहस था जो वे यथार्थ मुनि बन सकें। इसलिए उन्होंने ऐसा लिखा है सो ठीक ही है। जो जैसा होता है वैसा ही बलबूते को प्ररूपणा करता है।

यशस्तिलक में राजा यशोधर का चरित वर्णन करते हुए चण्डमारी देवी के अनेक पशु युगल और मनुष्य युगल को बलि चढ़ाने का वृत्तान्त लिखा है। यह चण्डमारी देवी कोई धातुपाषाण की बनी देवी की मूर्ति नहीं थी, किन्तु देवलोक की कोई देवी थी, ऐसा यशस्तिलक चम्पू, उत्तरार्ध पृष्ठ ४१८ (निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई द्वारा प्रकाशित) के निम्न श्लोक से प्रकट होता है –

रत्नद्वयेन समलङ्कृतचित्तवृत्तिः ।
सा देवतापि गणिनो महमारचय्य ।।
द्वीपान्तर - द्युनगजातजिनेन्द्रसद्म-।
वन्दारुताऽनुमतकामपरायणाऽभूत् ।।

अर्थ :- उस समय वह चण्डमारी देवी भी सुदत्ताचार्य गणी की पूजा करके रत्नद्वय कहिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से जिसकी चित्तवृत्ति अलंकृत हो गयी है ऐसी वह देवी द्वीपान्तरों, स्वर्गों और पर्वतों पर स्थित जिन–चैत्यालयों की वन्दना में प्रवृत्त हुई।

दिगम्बर जैनागम के अनुसार देवलोक की कोई भी देवी मदिरा–मांस का सेवन करती नहीं। तब फिर उक्त चण्डमारी देवी अपने लिए जीवों की बलि किस अर्थ चढ़वाती थी? ऐसा करने का उसका अन्य कारण क्या था? जिसका स्पष्टीकरण सोमदेव ने कथा भर में कहीं भी क्यों नहीं किया? कथा पढ़नेवाले को तो यही प्रतिभासित होता है कि –जैनधर्म में भी देवलोक की देवी मांस खाती है और तदर्थ जीवों की बलि चढ़वाती है।

इत्यादि बातों से सोमदेव मूलसंघ के ऋषि मालूम नहीं होते हैं। अतः उनका पंचामृताभिषेक लिखना माननेयोग्य नहीं है।

वसुनन्दि

इनका बनाया हुआ प्राकृत में श्रावकाचार ग्रंथ है, जिसका प्रचलित नाम '**वसुनन्दिश्रावकाचार**' है। उसमें भी पंचामृताभिषेक का उल्लेख है। ये वसुनन्दि भी मूलसंघ के नहीं हैं। इन्होंने इस श्रावकाचार की प्रशस्ति में अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है – श्रीनन्दि–नयनन्दि–नेमिचन्द्र और वसुनन्दि। इस परंपरा में वसुनन्दि ने अपने दादागुरु का नाम नयनन्दि लिखा है। एक नयनन्दि वे भी हुए हैं जिन्होंने अपभ्रंश भाषा में सुदर्शन चरित रचा है। उसमें वे अपनी गुरुपरंपरा इस प्रकार देते हैं –

नन्दनन्दि–रामनन्दि–माणिक्यनन्दि–नयनन्दि। इस परम्परा में नयनन्दि ने अपने गुरु का नाम माणिक्यनन्दि लिखा है और श्रीनन्दि का परम्परा में कहीं कोई नाम ही नहीं है। जबकि वसुनन्दि ने नयनन्दि के गुरु का नाम श्रीनन्दि लिखा है। अतः सुदर्शन चरित के कर्ता नयनन्दि वसुनन्दि के दादागुरु नहीं हो सकते हैं। एक श्रीनन्दि वे हुए हैं जिनके शिष्य श्रीचन्द ने पुराणसार ग्रंथ और उत्तरपुराण तथा पद्मचरित पर टिप्पण लिखा है। पद्मचरित पर टिप्पण श्रीचन्द्र ने वि. सं. १०८७ में धारा नगरी के राजा भोजदेव के राज्य में लिखा है। इस टिप्पण की प्रशस्ति में श्रीचंद्र ने अपने गुरु श्रीनन्दि को बलात्कारगण का आचार्य बताया है। (देखो, भट्टारक सम्प्रदाय पुस्तक, पृ. ३९) वसुनन्दि ने अपनी गुरु परम्परा में जिन श्रीनन्दि का नाम लिखा है, संभवतः वे श्रीनन्दि और श्रीचन्द्र के गुरु श्रीनन्दि दोनों अभिन्न हो सकते हैं। बलात्कारगण के भट्टारक अपने को कुन्दकुन्द की परम्परा के बतलाया करते हैं। वसुनन्दि ने भी श्रावकाचार की प्रशस्ति में ऐसा ही लिखा है। बलात्कारगण यह नाम भट्टारकों का चलाया हुआ है। पूर्वाचार्यों ने कहीं भी अपने को बलात्कारगण का नहीं लिखा है। इस गण का उल्लेख विक्रम की ११वीं–१२वीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता है। इस गण के साधु ११वीं–१२वीं शताब्दी में ही भूमिदान लेने लग गये थे। जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृष्ठ २२० में बलात्कारगण के आचार्य केशवनन्दि को वि. सं. ११०५ में दिये भूमिदान का उल्लेख है। उसी दूसरे भाग के पृष्ठ ३३६ में बलात्कारगण के आचार्य पद्मप्रभ को वि. सं. ११४४ में दिये गये दान का उल्लेख है। विक्रम की १४ वीं सदी से इस गण के साथ ''सरस्वतीगच्छ'' नाम भी जुड़ने लगा है। इसी बलात्कारगण में कारंजा शाखा, लातूर शाखा के भट्टारक हुए हैं तथा उत्तर शाखा के भट्टारक हुए हैं। उत्तरशाखा के भट्टारकों में वि. सं. १३८५ के लगभग पद्मनन्दि भट्टारक हुए। जिनके तीन शिष्य – शुभचन्द्र, सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति हुए। शुभचन्द्र से दिल्ली–जयपुर की भट्टारकीय गद्दी चली। सकलकीर्ति से ईडर की गद्दी चली और देवेन्द्रकीर्ति से सूरत की गद्दी चली। इस प्रकार ये भट्टारक जो अपने को मूलसंघी और कुन्दकुन्द के अन्वय के बतलाते हैं ये सब बलात्कारगण में हुए हैं। **इसी बलात्कारगण में लगभग विक्रम की १२ वीं शताब्दी में श्रावकाचार के कर्ता वसुनन्दि**

हुए हैं, ये भी भट्टारक ही थे। अतः इन्होंने जो पंचामृताभिषेक लिखा है वह मान्य किये जाने के योग्य नहीं है।

इस वसुनन्दि ने श्रावकाचार में कुछ अन्य भी कथन विलक्षण किये हैं। जैसे दूसरे गुणव्रत स्वरूप (गाथा २१५ में) ऐसा बताया है –''जिस देश में जाने से व्रतों का भंग होता है उस देश में जाने का त्याग करना इसे देशव्रत नामक दूसरा गुणव्रत कहते हैं।'' यह कथन अन्य पूर्ववर्ती सभी जैन शास्त्रों से विलक्षण है। उनमें ''दिग्व्रत में की हुई मर्यादा के भीतर किसी कालप्रमाण से अल्पक्षेत्र की मर्यादा करके उससे बाहर न जाने को देशव्रत कहा है।'' यह त्याग उत्कृष्ट है, ऐसा त्यागी सीमा के बाहर महाव्रती के तुल्य हो जाता है और इसका किसी अन्य व्रतों में अंतर्भाव भी नहीं होता है। यह जुदा ही एक स्वतंत्र व्रत है, किन्तु वसुनन्दि ने देशव्रत का जैसा स्वरूप लिखा है उससे वह एक स्वतंत्र व्रत सिद्ध नहीं होता है। जहाँ जाने से अहिंसादि व्रतों की विराधना होती हो ऐसे स्थान में नहीं जाना यह तो अणुव्रतों का ही पालन हुआ। ऐसा प्रयास तो अणुव्रती हरदम करेगा ही, उसे ही एक जुदा देशव्रत बतलाना निरर्थक है, स्वकल्पित है और पूर्वाचार्यों की परिपाटी से भिन्न है।

इसी तरह वसुनन्दि ने (गाथा ३१२ में) देशव्रती को सिद्धान्त शास्त्रों के पढ़ने का अनधिकारी बताया है। इनका कथन भी ठीक नहीं है। लौकान्तिक देवों को शास्त्रों में द्वादशांग के ज्ञाता बताये हैं और ये सब देव चतुर्थ गुणस्थानी होते हैं। जबकि चौथे गुणस्थान के धारी अंग–पूर्वों के पाठी हो सकते हैं, तो पंचम गुणस्थानी देशव्रती क्यों नहीं हो सकते हैं? आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण पर्व ३९ में श्रावकीय क्रियाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि –पाँचवीं पूजाराध्य क्रिया में श्रावक अंगों के अर्थसमूह को सुनता है और छठवीं पुण्ययज्ञ क्रिया में पूर्वों के अर्थ को सुनता है। (श्लोक ४९–५०) ऐसी अवस्था में वसुनन्दि का यह लिखना कि ''देशव्रती श्रावक को सिद्धान्त के अध्ययन का अधिकार नहीं है'' –उचित नहीं है। इसका समर्थन पूर्वाचार्यों के शास्त्रों से नहीं होता है।

वसुनन्दि ने उक्त श्रावकाचार की गाथा २३४ में तीनों पात्रों को नवधा भक्ति से आहार देने का आदेश दिया है। और इन्होंने ही गाथा २२२ में अविरत सम्यग्दृष्टि को

पात्र का तीसरा भेद –जघन्य पात्र बताया है। तो क्या आहार देते समय जघन्य पात्र की भी नवधा भक्ति की जावे? नवधा भक्ति में वसुनन्दि ने गाथा २२६ आदि में प्रणाम–अर्चन और पात्र के पादोदक को मस्तक पर चढ़ाना भी बताया है। तो क्या जघन्य पात्र का भी अर्चनादि किया जावे? वसुनन्दि का ऐसा कथन बिल्कुल अयुक्त है। कहाँ तो आचार्य श्री कुन्दकुन्द की यह आज्ञा कि ''एक मुनिलिंग ही वन्दने योग्य है। इसके सिवा अन्य लिंग जो दर्शन ज्ञान से सहित हो, पर वस्त्रधारी हो ऐसे क्षुल्लकादि भी वन्दनायोग्य नहीं है –इच्छाकार योग्य है।'' (सूत्रपाहुड़ गाथा १३) और कहाँ वसुनन्दि का उक्त कथन। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में वसुनन्दि की तरह कथन है, परन्तु वहाँ संक्षिप्त कथन होने से ऐसा लिखा गया है। वसुनन्दि ने तो दान का ५० गाथाओं में विस्तार से कथन किया है, फिर उन्होंने यहाँ ऐसा सामान्य कथन क्यों किया? बात यहाँ कुछ ऐसी ज्ञात होती है कि भट्टारक साधुओं की गणना उत्तम–मध्यम–जघन्य पात्रों में से किस भेद में की जावे? ये भट्टारक न तो पूरी मुनि की क्रियाएँ पालते हैं और न प्रतिमाधारी श्रावकों की ही। फिर भी ये अपना आदर–सम्मान मुनियों जैसा ही चाहते हैं, इसी अभिप्राय से वसुनन्दि ने यहाँ गोलमाल उपदेश दे दिया है और भी कथन इनके विलक्षण हैं। जैसे इन्होंने श्रावक के बारह व्रतों के अतीचार ही नहीं लिखे हैं। जबकि इनसे पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने अतीचार लिखे हैं। इन वसुनन्दि का समय १२ वीं शताब्दी है। जो श्रीनन्दि श्रीचन्द्र के गुरु हुए वे ही नयनन्दि के गुरु हुए। श्रीचन्द्र का समय ऊपर वि. सं. १०८७ बता आये हैं और चूँकि वसुनन्दि के नयनन्दि दादागुरु होते हैं इस हिसाब से वसुनन्दि का समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध भी हो सकता है।

अभयनन्दि

इनका बनाया संस्कृत में लघुस्नपन अपर नाम श्रेयो विधान नाम का अभिषेक पाठ है। यह अभिषेक पाठ संग्रह में छपा है। इसमें पंचामृत से अभिषेक करने की विधि लिखी है। ये कब हुए व इनकी गुरु परिपाटी क्या थी, इसका कोई पता इस पाठ पर से नहीं लगता है। जैनेन्द्र व्याकरण की महावृत्ति के कर्ता भी अभयनन्दि हुए हैं जिनका समय विक्रम की ८वीं–९वीं शताब्दी के बाद और १२ वीं शताब्दी से पूर्व का माना जाता है। लघुस्नपन के टीकाकार भावशर्मा ने इन्हीं महावृत्तिकार अभयनन्दि को लघुस्नपन

का कर्ता माना है। परन्तु ऐसा मानने में कोई आधार नहीं लिखा है। लघुस्नपन की टीका का रचनाकाल राजस्थान ग्रंथसूची द्वितीय भाग के पृष्ठ १४ में वि.सं. १५६० लिखा है। महावृत्तिकार अभयनन्दि से लगभग पाँचसौ से भी अधिक वर्षों बाद होनेवाले भावशर्मा के बिना आधार लिख देने मात्र से ही ऐसा कैसे मान लें कि महावृत्तिकार अभयनन्दि ही इस लघुस्नपन के निर्माता हैं। गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र के गुरु का नाम अभयनन्दि है। सेठ माणिकचन्दजी जौहरी का जीवनचरित्र पृष्ठ २८ में प्रतिमा लेख छपा है, उसमें भी वि. सं. १३८७ के समय के एक अभयनन्दि का उल्लेख हुआ है। और भी अभयनन्दि हुए होंगे। इन सब में कौन अभयनन्दि लघुस्नपन के कर्ता हैं ऐसा कोई निश्चित नहीं है। ऐसी अवस्था में बिना पुष्ट प्रमाण के नेमिचन्द्र के गुरु अभयनन्दि को या महावृत्ति के कर्ता अभयनन्दि को लघुस्नपन का कर्ता कह देना उच्छृंखलता है। इसलिए जब तक लघुस्नपन के कर्ता अभयनन्दि का समय पूर्ण निश्चय न हो जाये तब तक वह ग्रंथ और उसमें लिखा पंचामृत का विधान मूलसंघ का नहीं माना जा सकता है।

पूज्यपाद और गुणभद्र

अभिषेक पाठसंग्रह में इन दोनों के बनाये अभिषेकपाठ भी छाप रक्खे हैं। इन दोनों पाठों में भी पंचामृत से अभिषेक करने का विधान लिखा है। ये पूज्यपाद और गुणभद्र वे आचार्य नहीं हैं, जिन्होंने सर्वार्थसिद्धि और उत्तरपुराण ग्रंथ रचे हैं। किन्तु ये दूसरे ही पूज्यपाद-गुणभद्र हुए हैं जो भट्टारक थे और आशाधर के बाद हुए हैं। इस संबंध में हमने इसी पुस्तक में जुदे लेखों में विस्तृत विचार किये हैं, उन्हें देखें।

देवसेन

इनका बनाया प्राकृत में भावसंग्रह नाम का ग्रंथ है। उसमें भी पंचामृत का उल्लेख है। ये देवसेन वे प्राचीन देवसेन नहीं हैं, जिन्होंने दर्शनसार, आराधनासार आदि ग्रंथ लिखे हैं। भावसंग्रहकार देवसेन तो आशाधर के बाद हुए हैं। इनके संबंध में भी हमने अपने विस्तृत विचार इसी पुस्तक में अन्यत्र प्रकट किये हैं, वहाँ देखें।

मल्लिषेण

इनका बनाया संस्कृत में 'नागकुमार चरित' है, जिसमें पंचामृत का उल्लेख है। ये मल्लिषेण मन्त्रवादी मठपति साधु थे। इन्होंने ''भैरव-पद्मावती कल्प'' नाम का मन्त्रशास्त्र लिखा है जो छप चुका है। उसमें मारण, मोहन, वशीकरण आदि के प्रयोग लिखे हैं। कई प्रयोग बड़े घृणित हैं। एक यथार्थ जैन मुनि अपनी कलम से ऐसा नहीं लिख सकता है। ये विक्रम की १२ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। इनके गुरु का नाम जिनसेन था। एक दूसरे मल्लिषेण वे हुए हैं जो '**मलधारि**' पद के धारी थे और जिनकी समाधि श्रवणबेलगोल में वि. सं. ११८५ में हुई थी, ऐसा मल्लिषेणप्रशस्ति में लिखा है। ये अजितसेन के शिष्य थे और बड़े भारी योगी जितेन्द्रिय थे। इस तरह दोनों मल्लिषेण भिन्न-भिन्न थे। एक अजितसेन के शिष्य थे और दूसरे जिनसेन के शिष्य थे। इस प्रकार नागकुमार चरित के कर्ता मल्लिषेण मूलसंघ के नहीं हैं।

वर्द्धमान कवि

इनका बनाया हुआ संस्कृत में '**वरांगचरित्र**' है। उसमें भी पंचामृत का विधान है। इनके शिष्य धर्मभूषण ने न्यायदीपिका ग्रंथ बनाया है। इनके समय वि. सं. १४४२ में विजयनगर में एक जिनमन्दिर बनाया गया था। उसके शिलालेख में धर्मभूषण की गुरुपरम्परा (भट्टारक संप्रदाय, पृष्ठ ४२) इस प्रकार लिखी है -धर्मभूषण-अमरकीर्ति, अमरकीर्ति के दो शिष्य सिंहनन्दि और धर्मभूषण। सिंहनन्दि के वर्द्धमान और वर्द्धमान के धर्मभूषण। ये ही धर्मभूषण न्यायदीपिका के कर्ता हैं। इन्होंने अपने गुरु का नाम वर्द्धमान लिखा है और अपने को अभिनव-धर्मभूषण लिखा है। इनकी गुरु परम्परा में दो धर्मभूषण और हुए हैं, इसलिए उनसे पृथक् बोध कराने के लिए इन्होंने अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण दिया है। इनके विषय में विशेष जानना चाहें तो वीरसेवामन्दिर से प्रकाशित न्यायदीपिका की प्रस्तावना देखनी चाहिए। इनका समय उक्त शिलालेख में वि. सं. १४४२ लिखा है। इन धर्मभूषण के गुरु वर्द्धमान का विन्ध्यगिरि के शिलालेख में उल्लेख हुआ है। (देखो, भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ ४२) वहाँ इनका समय वि. सं. १४२० लिखा है। उक्त विजयनगर के शिलालेख में इन वर्द्धमान को बलात्कारगण-सरस्वतीगच्छ का लिखा है। और वरांगचरित के कर्ता वर्द्धमान भी अपने

को बलात्कारगण-सरस्वतीगच्छ का लिखते हैं। अतः शिलालेख वाले वर्द्धमान और वरांगचरित के कर्ता वर्द्धमान दोनों एक ही हैं, जिनका समय वि. सं. १४२० है। इनको हरिवंशपुराणकार जिनसेन से पूर्व का बताना भारी ऐतिहासिक अज्ञानता है और दूसरों को धोखा देना है। हम ऊपर लिख आये हैं कि बलात्कारगण और सरस्वतीगच्छ का नामोल्लेख भट्टारकों के साथ होता है। अतः ये वर्द्धमान भी भट्टारक ही हुए हैं। उक्त विन्ध्यगिरि के शिलालेख में इन वर्द्धमान की गुरु-परम्परा में वसन्तकीर्ति का नाम आया है। इन वसन्तकीर्ति के बाबत श्रुतसागर ने षट्पाहुड़ की टीका पृष्ठ २१ में लिखा है कि -''इन्होंने नग्न मुनियों को यह आदेश दिया है कि -चर्यादि के लिए जब वे बस्ती में आवें तो तट्टीसारादि (आवरणविशेष) से शरीर को ढककर आवें, यह अपवादवेष है।'' ऐसा शिथिलाचार का उपदेश देनेवाले वसन्तकीर्ति की शिष्यपरम्परा में वर्द्धमान कवि हुए हैं जिन्होंने वरांगचरित्र बनाया है। अतः ये मूलसंघ के ऋषि नहीं थे; भट्टारक थे।

पंचामृताभिषेक के समर्थन में और भी प्रमाण दिये जाते हैं। उनमें से कितने ही तो स्पष्टतः भट्टारकीय ही हैं और कुछ गृहस्थ या ब्रह्मचारी विद्वानों के हैं, अतः सब अमान्य हैं। उनका कुछ इतिहास यहाँ बता देते हैं -

(१) **ब्रह्मसूरि** - ये १६ वीं शताब्दी में हुए हैं। गृहस्थ विद्वान हैं। नेमिचन्द्र कृत प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ की प्रशस्ति के अनुसार इन नेमिचन्द्र के ब्रह्मसूरि मामा लगते हैं।

(२) **एकसंधि** - ये भट्टारक थे। इनका समय १४ वीं शताब्दी है। इनके विषय में इस पुस्तक में अन्यत्र भी लिखा गया है।

(३) **सोमसेन** - त्रिवर्णाचार के कर्ता। ये सेनगण भट्टारक थे। इनका समय १७ वीं शताब्दी है। इनके त्रिवर्णाचार की परीक्षा श्री माननीय पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'ग्रंथपरीक्षा भा. ३' में की है। उसमें इनका विशेष हाल देखें।

(४) **सावयधम्मदोहा** - इसे योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचार बताया जाता है। कोई इसे देवसेन कृत बताते हैं। ये सब मिथ्या कल्पनाएँ हैं। दरअसल यह भट्टारक लक्ष्मीचंद की १६ वीं शताब्दी की रचना है। यह ग्रंथ हमारे केकड़ी नगर से प्रकाशित हुआ है, जिसका सम्पादन और हिंदी अनुवाद स्थानीय विद्वान् पं. दीपचंदजी पाण्ड्या शास्त्री ने किया है। इस ग्रंथ के कर्ता के विषय में विशेष हाल उसकी प्रस्तावना में देखें।

(५) सकलकीर्ति – श्रीपालचरित और रत्नत्रयाद्यभिषेक पाठ के कर्ता। एक प्रसिद्ध सकलकीर्ति वे हुए जो भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य थे और ईडर की गद्दी के भट्टारक थे। ये वि. की १५ वीं शताब्दी में हुए हैं। जिस श्रीपालचरित में पंचामृत का अभिषेक लिखा है उसके कर्ता ये ही सकलकीर्ति हैं या दूसरे? एक दूसरे सकलकीर्ति वि. सं. १६०५ में भी हुए हैं। (देखो, भट्टारक सम्प्रदाय में लेखांक ४७१) क्या पता, उक्त दोनों ग्रंथों के कर्ता ये दूसरे सकलकीर्ति ही हों?

(६) उमास्वामी श्रावकाचार - इस श्रावकाचार में पंचामृत का विधान है। इसे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता प्रसिद्ध आचार्य उमास्वामी का रचा हुआ कहते हैं जो सरासर गलत है और अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए धोखा देते हैं। इस ग्रंथ में यशस्तिलक, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, आदिपुराण, पं. मेधावी, पं. आशाधर के श्लोक पाये जाते हैं। अतः यह हरगिज भी तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता आचार्य उमास्वामी की कृति नहीं है। किसीने उमास्वामी के नाम पर यह ग्रंथ रचकर अपना कुत्सित आम्नाय चलाने का प्रयत्न किया है। कुन्दकुन्द श्रावकाचार, जिनसेन त्रिवर्णाचार, भद्रबाहु संहिता आदि और भी ग्रंथ इस किस्म के दिगम्बर जैनधर्म में मिलते हैं जिनकी श्री मुख्तार सा. पं. जुगलकिशोरजी ने ग्रंथ परीक्षा के भागों में अच्छी कलई खोली है, उन्हें देखना चाहिए।

(७) मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र और कवि दामोदर - धर्मचन्द्र ने गौतम चरित्र लिखा और कवि दामोदर ने संवत् १७२७ में चन्द्रप्रभ चरित्र लिखा। इन दोनों ग्रंथों में पंचामृत का विधान है। गौतम चरित्र की प्रशस्ति के अनुसार धर्मचन्द्र जी मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के भट्टारक थे और अपने गुरु श्रीभूषण की मारौठ की भट्टारकीय गद्दी पर बैठे थे। इन्होंने वि. सं. १७२६ में गौतम चरित्र की रचना की थी। कवि दामोदर इन्हींके शिष्य थे, किन्तु पट्टधर शिष्य नहीं थे। संभवतः वे गृहस्थ–विद्वान् ही मालूम पड़ते हैं।

(८) वामदेव - संस्कृत भावसंग्रह के कर्ता। इन्होंने पंचामृत का उल्लेख किया है। ये सम्भवतः कायस्थ माने जाते हैं। इनके बनाये भावसंग्रह में संहिता का अर्द्ध–श्लोक उद्धृत हुआ है। वह श्लोकार्द्ध इन्द्रनन्दिसंहिता का है। संहिताकार इन्द्रनन्दि पं. आशाधरजी के बाद हुए हैं यह निश्चित है। अर्थात् आशाधर के बाद इन्द्रनन्दि हुए और इन्द्रनन्दि के बाद वामदेव हुए। अतः वामदेव पन्द्रहवीं सदी के विद्वान् माने जा सकते हैं।

(९) **अर्यपार्य्य** - जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठाशास्त्र के कर्ता। इन्होंने भी पंचामृत लिखा है। उक्त प्रतिष्ठाशास्त्र विक्रम सं. १३७६ में बना है। इसकी प्रशस्ति के अनुसार अर्यपार्य्य करुणाकर श्रावक के पुत्र थे। माता का नाम अर्कांबा था। अर्यपार्य्य ने अपने को कहीं मुनि नहीं लिखा है। अतः ये गृहस्थ विद्वान् थे।

(१०) **इन्द्रनन्दि** - अभिषेकपाठ के कर्ता। इस पाठ में पंचामृत से अभिषेक करना लिखा है। इन ही इन्द्रनन्दि ने जिनसंहिता ग्रंथ बनाया है जिसमें आचमन, तर्पण, गोदान और पिण्डदान आदि कई विधि-विधान लिखे हैं। इससे यह स्पष्टतः भट्टारक मालूम पड़ते हैं। ब्रह्मसूरि, सोमसेन आदिकों ने जो त्रिवर्णाचार ग्रंथ बनाये हैं उन सब का आधार प्रायः यही जिनसंहिता रही है। ये १४ वीं शताब्दी में हुए हैं। इनके विषय में इसी पुस्तक में ''त्रिवर्णाचारों और संहिताग्रंथों का इतिहास'' शीर्षक लेख में भी बहुत कुछ लिखा है, उसे पढ़ें।

(११) **नेमिचन्द्र** कृत अभिषेक पाठ में भी पंचामृत का विधान है। ये वे ही नेमिचन्द्र हैं जिन्होंने प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ बनाया है। ये ब्रह्मसूरि के भानजे लगते हैं। ऊपर ब्रह्मसूरि का समय १६ वीं शताब्दी बताया है। वही समय इनका भी है। ये स्थिरकदम्ब नगर के निवासी थे। उक्त प्रतिष्ठाग्रंथ की प्रशस्ति में इन्होंने अपना बहुत सा कौटुम्बिक परिचय दिया है। इनको राजा द्वारा चँवर, छत्र, पालकी भेंट में मिली थी। अतः ये भट्टारकीय पण्डित मालूम पड़ते हैं।

(१२) **पं. उदयलालजी काशलीवाल** ने '**संशयतिमिरप्रदीप**' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसके पृष्ठ ५८ पर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत त्रिलोकसार ग्रंथ की गाथा देकर भगवान का चन्दन से अभिषेक करना सिद्ध किया है। वह गाथा इस प्रकार है -

चंदणाहिसेयणच्चणसंगीयवलोय मण्डवेहि जुदा ।
कीडण-गुणण गिहेहिं य विसाल वरपट्ट सालाहिं ।।१००९।।

इसका अर्थ उदयलालजी ने ऐसा किया है -

''चन्दन करके जिनभगवान् का अभिषेक, नृत्य, संगीत का अवलोकन, मन्दिरों में योग्य क्रीड़ा का करना और विशाल पट्टशाला करके।''

इस प्रकार उदयलालजी ने इस गाथा का प्रमाण देकर त्रिलोकसार द्वारा चन्दन से अभिषेक करने का विधान बताया है, परन्तु इस गाथा में **'चंदणाहिसेय'** वाक्य गलत है। उसकी जगह **'वंदणाहिसेय'** वाक्य चाहिए। यही वाक्य टोडरमलजी कृत वचनिका में है और माधवचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका में भी यही वाक्य है। पं. टोडरमलजी ने इस गाथा का अर्थ ऐसा किया है –

''बहुरि ते चैत्यालयवन्दना मण्डप कहिए, सामायिकादि करने के स्थान, स्नान करने के स्थान, नृत्य करने के स्थान, संगीत साधने के स्थान अवलोकन करने के साथ तिनकरि संयुक्त हैं .....''

संस्कृत टीकाकार ने भी ऐसा ही अर्थ किया है। इतना स्पष्ट होते भी और त्रिलोकसार की संस्कृत टीका और वचनिका मौजूद होते हुए भी पण्डित उदयलालजी ने वन्दना की जगह चन्दना पाठ क्यों लिखा? कारण स्पष्ट है। अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए जब उन्हें भट्टारकीय ग्रंथों के सिवा अन्य कोई मान्य आचार्यों का प्रमाण नहीं मिला, तो इसके सिवा वे और क्या करते? यही रवैया आज के विपक्षी पण्डितों का भी है। वे भी मान्य आचार्यों के प्रमाण नहीं मिलने से **इन भट्टारकों को ही मूलसंघ के महान् आचार्य बतला-बतलाकर उनके ही ग्रंथों के प्रमाण दिया करते हैं और कभी कभी तो ये पण्डित लोग किन्हीं भट्टारकों के नाम पूर्वाचार्यों के नाम जैसे ही हों तो उन्हें प्राचीन आचार्य बतलाकर भोले लोगों को धोखा दिया करते हैं। जैसा कि ये उमास्वामि श्रावकाचार, शिवकोटि की रत्नमाला, पूज्यपाद श्रावकाचार, कुन्दकुन्दश्रावकाचार, देवनन्दि-गुणभद्र के अभिषेकपाठ आदि ग्रंथों के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये सब ग्रंथ उन्हीं प्राचीन आचार्य उमास्वामी, पूज्यपाद, शिवकोटि आदि के बनाये हुए हैं।** इसी तरह ब्रह्म. सूरजमलजी जो श्री शिवसागरजी महाराज के कृपापात्र ब्रह्मचारी हैं उन्होंने स्वरचित **'स्त्री द्वारा जिनाभिषेक'** पुस्तक में अपभ्रंश–महापुराण के कर्ता कवि पुष्पदन्त को महासिद्धान्त के कर्ता भूतबलि पुष्पदन्त बतलाकर धोखा दिया है। इस तरह की चालाकी से किसी विषय का निर्णय करना योग्य नहीं है। ये पण्डित तो जो हैं सो हैं ही, किन्तु आजकल के कतिपय नग्नभेषी जैन साधु भी पंथ–

व्यामोह में पड़कर बिना पंचामृत अभिषेक के देखे गोचरी पर ही नहीं उतरते हैं। उनको जानना चाहिए कि उनकी ऐसी पद्धति से समाज में अशान्ति का वातावरण बनता है। वीतराग मार्ग के पथिक होकर श्रावकीय क्रियाओं में भाग लेकर समाज में विद्रोह पैदा करना मुनियों का काम नहीं है। कलिकाल न करे सो थोड़ा है। ऐसों को ही लक्ष्य करके शास्त्रों में एक पुरातन श्लोक लिखा मिलता है –

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ।।

अर्थ :- चरित्रभ्रष्ट पण्डितों ने और वठर (ज्ञानशून्य) साधुओं ने भगवान् जिनचन्द्र के निर्मल शासन को मलिन कर दिया है।

(१३) गजांकुश - इनका बनाया अभिषेक पाठ '**अभिषेक पाठ संग्रह**' में छपा है। इनकी इस कृति पर से कुछ पता नहीं लगता है कि ये कब हुए और इनकी गुरुपरम्परा क्या थी? ऐसा लगता है कि शायद हस्तिमल्ल का ही अपरनाम गजांकुश हो। ये हस्तिमल्ल वे ही हैं जो १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं जिन्होंने संस्कृत में 'विक्रान्त–कौरव' आदि नाटकों की रचना की है। इन्होंने प्रतिष्ठाग्रंथ भी लिखा है इससे ये क्रियाकाण्डी विद्वान् भी जान पड़ते हैं। ये गृहस्थ पण्डित थे। अर्यपार्य्यकृत प्रतिष्ठाशास्त्र की प्रशस्ति में लिखा है कि पाण्ड्य राजा के मदोन्मत्त हाथी को वश में करने के कारण इनका 'हस्तिमल्ल' नाम पड़ा। इसका पर्याय नाम गजांकुश भी हो सकता है।

प्रभाचन्द्राचार्य कृत एक क्रियाकलाप ग्रंथ है। कहते हैं कि उसके तीसरे अध्याय में गजांकुश का उक्त अभिषेक पाठ संग्रहीत है, किंतु जैनसन्देश, शोधांक १ जून १९६१ में क्रियाकलाप का परिचय लेख छपा है, उसमें इसके दो अध्याय ही बताये हैं। सामायिक पाठ की टीका प्रभाचन्द्र कृत है, उसमें अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत के पद्य पाये जाते हैं। इससे ये प्रभाचन्द्र पं. आशाधर के बाद हुए हैं। सम्भवतः गजांकुशअभिषेक पाठ के टीकाकार प्रभाचन्द्र भी आशाधर के उत्तरकाल के ही होंगे।

(१४) अभिषेकपाठ संग्रह में एक अभिषेक क्रम नाम का पाठ छपा है, उसमें गजांकुश आदि कुछ ग्रंथकारों के इस विषय के श्लोकों का संकलन किया गया है। यह संकलन पं. आशाधर ने किया है ऐसा कहना गलत है, क्योंकि, इस संकलन में पं.

आशाधरजी के नित्यमहोद्योत के कुछ पद्य संग्रहीत हैं। इसलिए इस पाठ का संकलन आशाधरजी के बाद किसी अन्य विद्वान् ने किया है। पं. आशाधरजी तो स्वतंत्र ग्रंथ रचने की योग्यता रखते थे। इनके द्वारा इस तरह के संकलन की सम्भावना नहीं की जा सकती है। और जब कि उन्होंने इस विषय का नित्यमहोद्योत नाम का एक स्वतंत्र ग्रंथ बना दिया है, तो फिर उनको ऐसे पाठों के संकलन की क्यों जरूरत हुई?

(१५) शुभचन्द्रकृत सिद्धचक्राभिषेक अभिषेक पाठ संग्रह में छपा है। ये ईडर गद्दी के भट्टारक सकलचन्द्र की शिष्यपरम्परा में हुए हैं। धुलेव के श्री ऋषभदेवजी के मन्दिर में सं. १६१२ में इन शुभचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित कई मूर्तियाँ हैं, अतः ये भट्टारक थे। यथार्थ दिगम्बर ऋषि मूर्तियों की प्रतिष्ठा नहीं कराया करते हैं।

(१६) सकलभूषण – षट्कर्मोपदेश रत्नमाला ग्रंथ के कर्ता। इस ग्रंथ में पंचामृत लिखा है। यह ग्रंथ वि. सं. १६२७ में बना है। उक्त शुभचन्द्र भट्टारक के शिष्य सुमतिकीर्ति के ये सकलभूषण गुरुभाई लगते हैं।

(१७) सिंहनन्दि – णमोकार कल्प (पंचनमस्कार दीपिका) के कर्ता। इस ग्रंथ में पंचामृत लिखा है। इसकी रचना वि. सं. १६६७ में हुई है। इनके गुरु भट्टारक शुभचन्द्र थे। ऊपर लिखे शुभचन्द्र से ये शुभचन्द्र जुदा हैं। वे शुभचन्द्र बलात्कारगण में हुए और ये सेनगण में हुए हैं। (देखो, जैन प्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ २४)

(१८) ब्रह्म० नेमिदत्त – नेमिपुराण, श्रीपालचरित्रादि ग्रंथों के कर्ता। ये अग्रवाल जाति के थे। गोयल इनका गोत्र था। मालव देश के आशानगर के रहनेवाले थे। भट्टारक मल्लिभूषण इनके गुरु थे। सं. १५८५ में इन्होंने श्रीपालचरित्र की रचना की थी। ये ब्रह्मचारी थे। न भट्टारक थे और न मुनि। (देखो, राजस्थान प्रशस्तिसंग्रह की प्रस्तावना, पृष्ठ ११)

(१९) अकलंकदेव – प्रतिष्ठापाठ के कर्ता। ये अकलंकदेव वे प्राचीन अकलंकदेव नहीं हैं जो राजवार्तिक आदि के कर्ता थे। प्रतिष्ठापाठ के कर्ता अकलंकदेव ने नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ का उल्लेख किया है। अतः ये नेमिचन्द्र के बाद १७ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए हैं। इनका विशेष परिचय श्री पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार के ग्रंथपरीक्षा में देखें।

(२०) श्रुतसागरसूरि - षट्पाहुड़ आदि ग्रंथों के टीकाकार। इनका समय १६ वीं शताब्दी है। सूरत की भट्टारकीय गद्दी के भट्टारक विद्यानन्दि के शिष्य थे। किन्तु विद्यानन्दि के ये पट्टधर शिष्य नहीं थे। पट्टधर शिष्य मल्लिभूषण थे। श्रुतसागर ने अपने बनाये मुकुटसप्तमी कथा, षोड़शकारण कथा, सुगंधदशमी कथा, तपोलक्षणपंक्ति कथा, विमानपंक्ति कथा, पल्यविधान कथा और महाभिषेक टीका इन ग्रंथों में अपने को '**देशव्रती**' लिखा है।

षट्पाहुड़ की टीका के वक्त ये साधु भी हो गये हों तो भी ये भट्टारक ही हुए होंगे, क्योंकि षट्पाहुड़ की टीका में प्रतिपक्षियों के प्रति जो उद्गार इन्होंने प्रकट किये हैं वे श्रेष्ठ मुनि के योग्य नहीं हैं। इन्होंने दर्शनपाहुड़ की गाथा की टीका में लिखा है कि – ''**यदि ते मिथ्यादृष्टयः जिनसूत्रमुल्लङ्घन्ते तदाऽऽस्तिकैर्युक्ति-वचनेन निषेधनीयाः। तथापि यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थै-रास्तिकै-रुपानद्भिर्गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीया तत्र पापं नास्ति।**'' इसमें बताया है कि अगर वे मिथ्यादृष्टि जिनसूत्र का उल्लंघन करते हैं तो आस्तिकों को चाहिए कि वे युक्ति से समझाकर उन्हें मना करें। इतने पर भी यदि वे कदाग्रह को न छोड़ें तो समर्थ आस्तिकों को विष्टा से भरे जूते उनके मुँह पर मारने चाहिए, इसमें पाप नहीं है।

शत्रु–मित्र पर समदृष्टि रखनेवाले और '**मध्यस्थ-भावं विपरीतवृत्तौ**' की भावना रखनेवाले एक उत्तम जैन मुनि इतना कठोर और असभ्य आदेश नहीं दे सकते हैं। श्रुतसागर ने इस कथन के समर्थन के लिए गुणभद्रकृत उत्तरपुराण का यहाँ हवाला दिया है, सो ठीक नहीं है। क्योंकि गुणभद्र का कथन जैनधर्म पर अत्याचार करनेवालों के निवारण के लिए है, जबकि श्रुतसागर का कथन जबर्दस्ती अजैनों को जैन सिद्धान्त मनाने के लिए है। इस तरह गुणभद्र और श्रुतसागर के कथन में बड़ा अंतर है। इन श्रुतसागर ने तत्त्वार्थवृत्ति में कुछ कथन सिद्धान्तविरूद्ध भी किया है जिसका दिग्दर्शन उसकी प्रस्तावना में किया गया है। जैसे – एकेन्द्रिय जीवों के असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन बताना। प्रथमोपशम सम्यक्त्वी के पाँच के बजाय सात प्रकृतियों का उपशम बताना आदि। इसके अलावा इस वृत्ति में हमारी नजर में भी विरुद्ध कथन आया है कि इसके तीसरे अध्याय के पैंतीसवें सूत्र में लिखा है कि ''**पुष्करार्द्ध द्वीप की नदियाँ**

मानुषोत्तर पर्वत के बाहर नहीं जाती हैं।'' जबकि हरिवंशपुराण अध्याय ५, श्लोक ५९६, त्रिलोकसार गाथा ९३७, त्रिलोकप्रज्ञप्ति गाथा २७५२ में १४ गुफाओं द्वारा १४ नदियों का मानुषोत्तर पर्वत से बाहर जाना बताया है। नदियों के बाहर जाने पर ही वे पुष्करवर समुद्र में प्रवेश कर सकेंगी। बाहर नहीं जायेंगी तो उनका जल कहाँ समायेगा? इस वृत्ति के अध्याय ९, सूत्र ४७ में द्रव्यलिंग की व्याख्या करते हुए श्रुतसागर ने ''असमर्थ और दोषयुक्त शरीरवाले साधुओं के लिए अपवाद-रूप से वस्त्रग्रहण का, कम्बल ओढ़ने का विधान किया है और लिखा है कि शीत काल निकल जाने पर असमर्थ साधु कम्बलादिक छोड़ दें।''

किन्तु यहाँ श्रुतसागर ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि जो दोषयुक्त शरीरवाले साधु हैं और लज्जानिवारण के लिए ही जिन्होंने वस्त्र ग्रहण किया है वे भी कभी वस्त्र छोड़ें या नहीं और ऐसे साधु के फिर लज्जा परीषह का जीतना भी कैसे हो सकेगा? श्रुतसागर ने बोधपाहुड़ की १७ वीं गाथा की टीका में मुनियों के शरीर में तैल मलने का भी उपदेश दिया है इत्यादि शिथिलाचार का पोषक व्याख्यान श्रुतसागर ने किया है। मुनिवृत्ति को विकृत करने के साथ ही श्रावकों की पूजा-पद्धति को भी श्रुतसागर ने विकृत किया है। उसके भी नमूने देखिए -

व्रतकथाकोष में श्रुतसागर ने मुकुटसप्तमी व्रत की विधि बताते हुए लिखा है कि जिनप्रतिमा के गले में फूलों की माला पहिनावें और प्रतिमा के सिर पर फूलों का मुकुट रखें और आकाशपंचमीव्रत की विधि में बताया है कि भाद्रपद शुक्ला पंचमी को उपवास कर रात्रि में जिनमन्दिर में खुले आकाश में सिंहासन पर चार जिनप्रतिमाओं को विराजमान कर प्रहर-प्रहर में उनका अभिषेकादिक करें एवं चन्दनषष्ठी व्रत की विधि में लिखा है कि भाद्रपद कृष्णा षष्ठी के दिन उपवास करके रात्रि में चन्द्रोदय होने पर चन्द्रप्रभु भगवान् का पंचामृत से अभिषेक करके कूष्मांड आदि का अर्घ्य देवें तथा दुग्धद्वादशी व्रत की विधि में लिखा है कि एक तपेला में दुग्ध भरकर उसमें जिनप्रतिमा को रातभर डुबोई रखें, बाद में निकाल लें।

इन कथनों से जान पड़ता है कि इन भट्टारकों ने कैसे-कैसे विचित्र कथन किये हैं।

इस प्रकार पंचामृताभिषेक की सिद्धि के लिए अब तक जितने भी आगमप्रमाण दिये गये हैं उन सब पर हमने यहाँ ऊहापोह किया है और इतिहासादि की दृष्टि से यह बताया है कि उनमें एक प्रमाण भी मूलसंघ के मान्य आचार्य का नहीं है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि हमारे यहाँ मूलसंघ में बहुत पहले तो ऐसे मुनियों का समुदाय था जो शास्त्रोक्त मुनिचारित्र का पालन करता था। इस समुदाय में धरसेन, भूतबलि, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि मुनीश्वर हुए। तदुपरान्त कालदोष से मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनि विरले रह गये। और उनके साथ शिथिलाचारी मठवासी नग्नभेषी साधुओं का प्रादुर्भाव हो गया। ये जागीरें रखने लगे। मठ-मन्दिरों में रहने लगे। राजसभाओं में जाने लगे। ये भी अपने को मूलसंघी ही बताते रहे। होते-होते आगे चलकर तो दिगम्बर सम्प्रदाय में साधुओं में वस्त्रधारण भी शुरू हो गया। ये वस्त्रधारी होकर भी मुनि कहलाते थे और अपने आपको मूलसंघी बताते थे। इस प्रकार दिगम्बर मत में मूलसंघ में तीन प्रकार के मुनि हुए हैं -

(१) यथार्थ श्रेष्ठ मुनि (२) शिथिलाचारी नग्न मुनि (३) सवस्त्र मुनि। इनमें से पिछले दो भेदों को हम 'भट्टारक' नाम से कहते हैं अर्थात् नग्न भट्टारक और सवस्त्र भट्टारक। मूलसंघ के इन दोनों भट्टारकों की गणना पूर्वाचार्यों के मत अनुसार पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियों में होती है और यापनीय, द्राविड़, काष्ठासंघ आदि साधुओं की गणना उन्होंने जैनाभासों में की है। भट्टारकीय उल्लेखों से पता लगता है कि दिगम्बर जैन धर्म में मूलसंघ में भट्टारकों की दो परम्परा रही है -एक सेनगण की और दूसरी बलात्कारगण की। सेनगणवाले भट्टारक अपने को पुष्करगच्छ के कहते हैं और वृषभसेनान्वय लिखकर अपनी बुनियाद वृषभसेन (ऋषभदेव के गणधर) से शुरु करते हैं। इस परम्परा में त्रिवर्णाचार के कर्ता सोमसेन आदि भट्टारक हुए हैं। दूसरी परम्परा में बलात्कार गणवाले भट्टारक अपने को सरस्वती गच्छ का कहते हैं। और कुन्दकुन्दान्वय लिखकर अपनी बुनियाद कुन्दकुन्दाचार्य से शुरु करते हैं। इस परम्परा में बहुत भट्टारक हुए हैं और उनके अच्छे अच्छे विद्वान् शिष्य हुए हैं। इन भट्टारकों व शिष्यों ने बहुत सा जैन साहित्य निर्माण किया है। साथ ही इन्होंने बहुतसी जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएँ भी की हैं। बलात्कारगण में कारंजा शाखा, लातूर शाखा, दिल्ली-जयपुर

शाखा, नागौर शाखा, अटेर शाखा, ईडर शाखा, भानपुरा शाखा, सूरत शाखा और जेरहट शाखा में बहुत भट्टारक हुए हैं। इनमें उत्तरप्रदेश की शाखाओं के मूल आधार भट्टारक पद्मनन्दि हुए हैं। उनका समय वि. सं. १३८५-१४५० तक का है। उनके तीन प्रमुख शिष्य (१) शुभचन्द्र (२) सकलकीर्ति और (३) देवेन्द्रकीर्ति हुए। शुभचन्द्र से दिल्ली-जयपुर की शाखा चली। सकलकीर्ति से ईडर की शाखा चली और देवेन्द्रकीर्ति से सूरत की शाखा चली। अन्य शाखाएँ इन्हींके शिष्य-प्रशिष्यों से चली हैं। सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, श्रुतसागर और ब्रह्मनेमिदत्त आदि प्रचुर साहित्यकार इसी बलात्कारगण के भट्टारकों में हुए हैं। सेनगण के भट्टारक अपने नाम के साथ मूलसंघ, पुष्करगच्छ, वृषभसेनान्वय का प्रयोग करते हैं और बलात्कारगण के भट्टारक अपने नाम के साथ मूलसंघ सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दान्वय का प्रयोग करते हैं। भूमिदान लेने, मूर्तियों पर प्रतिष्ठालेख लिखने और ग्रंथप्रशस्तियों में ऐसे शब्दप्रयोगों का इन्होंने उपयोग किया है। हमारा अपना ऐसा खयाल है कि इस प्रकार के शब्द प्रयोग शिथिलाचारी नग्न भट्टारकों या सवस्त्र भट्टारकों ने ही किये हैं। मूलसंघ के मान्य प्राचीन आचार्यों ने नहीं किये हैं। इन भट्टारकों ने अपने को जो मूलसंघ के बताये हैं वह इस अपेक्षा से बताये हैं कि उनके समय में काष्ठासंघादि अन्य संघों के भट्टारकों का भी अस्तित्व था, उनसे पृथक् करने के लिए अपने को इन्होंने मूलसंघी लिखा है। मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनियों की जैसी चर्या लिखी है उस दृष्टि से इन्होंने अपने को मूलसंघी नहीं लिखा है। क्योंकि इन्होंने स्वरचित ग्रंथों में मुनियों की चर्या प्रायः वैसी लिखी है जो प्राचीन मूलसंघ के आचार्यों ने प्रतिपादन की है। हाँ, श्रुतसागरादि किन्हीं-किन्हींने शिथिलाचार का भी कहीं कहीं पोषण कर दिया है और ये भट्टारक यह जानते हुए भी कि अपने से शास्त्रोक्त मुनिचर्या का पालन नहीं होता है, तब भी ये अपने को मुनि, यति, गणी, सूरि आदि नामों से उल्लेखित करते रहे हैं। इसका कारण यह था कि मुनि या श्रावक ये दो ही तो श्रेणी हैं तो ये अपने को मुनि नहीं लिखते तो क्या श्रावक लिखते? श्रावक लिखने पर इनका दर्जा ऊँचा कैसे होता? और पालकी में बैठकर अपने ऊपर चँवर कैसे ढुलवाते? राजाओं द्वारा मान्यता कैसे प्राप्त करते? और श्रावकों पर शासन भी कैसे करते? इसलिए इन्होंने अपने आपको मुनि कहलाना ही उचित समझा। इसके लिए ये शुरु में दीक्षा लेते वक्त नग्नलिंग धारण करके मुनि बनने की रस्म भी पूरी कर लेते

थे। बाद में कालदोष का बहाना लेकर तत्कालीन पंचों के आग्रह से वस्त्र ग्रहण कर लेते थे। इस प्रकार की प्रवृत्ति चाहे इन्होंने किसी भी परिस्थितिवश की हो, तथापि हम उसे 'उत्सूत्र प्रवृत्ति' ही कहेंगे और उनके ऐसे मार्ग को हम 'भट्टारक पंथ' के नाम से पुकारेंगे। जिस प्रकार श्वेताम्बर मत में वस्त्रधारी मुनि माने जाते हैं उसी तरह दिगम्बर मत में वस्त्रधारी भट्टारक मुनि माने जाते है और जिस तरह श्वेताम्बर मत में जिनप्रतिमा की पूजापद्धति में पंचामृत से अभिषेक करना, शासनदेवों की उपासना करना आदि विधान हैं, उसी तरह दिगम्बर मत के भट्टारक पंथ में भी ऐसे विधान हैं। इसलिए यापनीय, द्राविड़ आदि की तरह भट्टारक पंथ भी अप्रमाण है, **जिसे यथार्थ में मूलसंघ कहना चाहिए उसके शास्त्रों में पंचामृताभिषेक का विधान कतई नहीं है। तिलोयपण्णत्ति आदि में भी पंचामृताभिषेक नहीं है। माथुर संघी अमितगति के श्रावकाचारादि ग्रंथों में भी पंचामृताभिषेक का नितांत अभाव है।**

जैनधर्म में सर्वप्रथम पंचामृताभिषेक का विधान श्वेताम्बर मत में था, दिगम्बर मत में नहीं था। आगे चलकर इसका प्रवेश दिगम्बर मत में अनुमानतः ऐसा हुआ कि विमलसूरि ने प्राकृत भाषा में एक पउमचरिय नामक कथाग्रंथ बनाया। यह ग्रंथ पूर्णतः श्वेताम्बर आम्नाय का न होकर भी बहुतसी बातें इसमें दिगम्बर मूलसंघ सम्मत नहीं हैं। और तो क्या, इसमें एक जगह मुनि का विशेषण श्वेताम्बर भी लिखा मिलता है। प्रायः इसी ग्रंथ की छाया को लेकर दिगम्बर मत के रविषेण आचार्य ने संस्कृत में पद्मचरित ग्रंथ का निर्माण किया है। दोनों ग्रंथों का आपस में मिलान करने से पता चलता है कि रविषेण ने विमलसूरि के पउमचरिय की अधिकांश में नकल की है। इस नकल से जाना जाता है कि कितनी ही बातें रविषेण ने विमलसूरि की मानी हैं और कितनी ही नहीं भी मानी हैं। जितनी रविषेण ने मानी हैं उनमें से भी कितनी ही मूलसंघ के अनुकूल नहीं हैं। इससे हम कह सकते हैं कि एक ओर रविषेण की आम्नाय पूर्णतः विमलसूरि के मत से नहीं मिलती है तो दूसरी ओर रविषेण की आम्नाय पूर्णतः मूलसंघ से भी नहीं मिलती है। ऐसी हालत में रविषेण ने पउमचरिय की नकल करते हुए अपने संस्कृत ग्रंथ पद्मचरित में पंचामृताभिषेक का कथन किया है उसे मूलसंघ के अनुकूल नहीं कह सकते हैं। दिगम्बर मत में पंचामृताभिषेक की सिद्धि में यही सब से प्रथम आगमप्रमाण पेश

किया जाता है, उसीका यह हाल है। इसीके अनुसार हरिवंशपुराण में जिनसेन ने लिख दिया है। उसीको मूलसंघ के कहलानेवाले भट्टारकों ने भी अपना लिया है। इसीके फलस्वरूप आज दिगम्बर सम्प्रदाय में दो दल दिखाई देते हैं –तेरापंथ और बीसपंथ। इसमें तेरापंथ प्राचीन मूलसंघ का पक्षपाती है और बीसपंथ अर्वाचीन मूलसंघ का।

इस लेख में की हुई छान–बीन के आधार पर यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि –**वस्तुतः जो मूलसंघ के ग्रंथ हैं उनमें किसी एक में भी पंचामृताभिषेक का विधान नहीं है।** ऊपर जिन ग्रंथों के विषय में चर्चा की गयी है उनके अलावा कितने ही ग्रंथ और भी मिल सकते हैं जिनमें पंचामृताभिषेक का विधान हो। किन्तु जाँच–पड़ताल करने पर वे भी या तो भट्टारकप्रणीत निकलेंगे या किन्हीं गृहस्थ विद्वानों द्वारा रचे हुए। जैसे कि पं. आशाधर, पं. मेधावी आदि ने रचे हैं। अपभ्रंश महापुराण के कर्ता पुष्पदन्त ने भी पंचामृताभिषेक लिखा है, पर वे भी गृहस्थ विद्वान् ही थे। इसी तरह 'पउमचरिउ' आदि अपभ्रंश ग्रंथों के कर्ता स्वयम्भू ने भी पंचामृताभिषेक लिखा है, वे भी गृहस्थ विद्वान् ही थे, वे यापनीय संघीय थे।

इसलिए विवेकी श्रावकों का कर्तव्य है कि वे भगवान् का अभिषेक स्वच्छ जल से ही करें, करावें। यही निर्दोष मूलसंघसम्मत सनातन की रीति है और इसीमें कल्याण है। इतना सा ज्ञान तो मन्दबुद्धियों को भी है कि –दही, दूध, घृत ये खाने की चीजें हैं, स्नान करने की चीजें नहीं हैं। स्नान तो जल से ही होता है और यही आबालगोपाल प्रसिद्ध है। तीर्थंकरों के चरित्रों में भी उनका जन्माभिषेक, राज्याभिषेक और दीक्षाभिषेक जल से ही किया गया है, तो फिर उन तीर्थंकरों की मूर्तियों का अभिषेक जल से ही करना चाहिए। अभिषेक का प्रयोजन भक्ति के साथ–साथ मूर्ति की सफाई होना भी है। इस सफाई के लिए जल से स्नान कराना ही उत्तम कहा जा सकता है। घृत–दुग्धादि से स्नान कराने से मूर्तियों की सफाई तो नहीं होगी, उल्टी वे चपचपी और समल होकर बिगड़ जायेंगी और उनपर चींटियाँ आदि जन्तुओं का भी संचार होने लगेगा एवं मक्खियाँ भी भिनभिनाने लगेंगी तथा अभिषेक हुए बाद पंचामृत को जहाँ भी डाला जायेगा वहाँ भी जीवों का संचार एवं जीवों की उत्पत्ति होगी और उससे जीवहिंसा का प्रसंग आवेगा। इस तरह पंचामृताभिषेक अप्रयोजनभूत और सावद्यमय सिद्ध होता है। इसलिए आगम और युक्ति दोनों ही से पंचामृताभिषेक करना योग्य नहीं है।

* * *

श्रावकाचारों में पंचामृताभिषेक

(स्व. पं. श्री हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री)

— द्वारा लिखित श्रावकाचार संग्रहकी प्रस्तावना के आधार कर प्रस्तुत परिचय —

दिगम्बर जैन समाज में श्रावकों की क्रियाओं के बारे में अभी तक ३५ श्रावकाचारों का उल्लेख मिलता है। इन श्रावकाचारों का अवलोकन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि किस-किस रचियता (आचार्य - भट्टारक - पण्डित) ने पूजन के साथ जलाभिषेक या पंचामृताभिषेक का उल्लेख किया है और किस किस ने नहीं किया है। इसका सप्रमाण विवेचन निम्न प्रकार है :-

१. **चारित्रपाहुड़** ——— **आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव** (विक्रम की प्रथम शताब्दि)
आचार्य श्री ने मात्र ६ गाथाओं में विकलचारित्र का वर्णन किया है और इनमें अभिषेक की क्रिया का कोई उल्लेख नहीं है।

२. **तत्त्वार्थसूत्र** ——— **आचार्य श्री उमास्वामीजी महाराज** (विक्रम संवत् १०१)
यह संस्कृत भाषा में रचित प्रथम धर्म शास्त्र है। इसके सातवें अध्याय में श्रावक के कर्तव्यों का वर्णन है। इसमें भी अभिषेकादि का कोई वर्णन नहीं है।

३. **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** **-आचार्य समन्तभद्रजी महाराज** (विक्रम की दूसरी शताब्दि)
इस ग्रन्थ में अर्हत्पूजन को वैयावृत्य के अन्तर्गत दर्शाने का विधान करते हुए भी अभिषेक की कोई चर्चा नहीं की गई है। (रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक संख्या ११९-१२०)

४. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** —— **स्वामी कार्तिकेय** (विक्रम की दूसरी - तीसरी शताब्दि)
इसमें प्रोषधोपवास की समाप्ति पर पात्र को दान देने के पूर्व पूजन करने का भी उल्लेख मात्र किया है। अभिषेक का भी कोई संकेत नहीं है।

५. **रत्नमाला** ——— **आ. शिवकोटी** (विक्रम की दूसरी शताब्दि)
इस ग्रंथ में भी अभिषेक का कोई वर्णन नहीं है।

७. वरांगचरित — आ. जटासिंह नन्दि (विक्रम की आठवीं – नवमी शताब्दि)
अभिषेक एवं पूजन का कोई वर्णन नहीं है।

८. हरिवंशपुराण — आ. जिनसेन प्रथम (विक्रम की आठवीं शताब्दि का मध्यभाग)
श्रावकधर्म के वर्णन में पूजन और अभिषेक का कोई वर्णन नहीं है।

९. महापुराण —— आचार्य जिनसेन द्वितीय (विक्रम की नवमी शती का उत्तरार्ध)
इसमें पूजन के नित्यमह आदि चारों भेदों का स्वरूप वर्णन करते हुए और एक स्थानपर "बलि-स्नपनादि" का उल्लेख करते हुए भी पंचामृताभिषेक का कहीं कोई निर्देश नहीं है।

१०. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय —— आचार्य अमृतचन्द्रजी (विक्रम संवत् ९६२)
इसमें प्रभावना अंग का वर्णन करते हुए "दान-तपो-जिनपूजा" वाक्य में केवल जिनपूजा का नामोल्लेख है, तथा प्रोषधोपवास के दिन प्रासुक द्रव्यों से जिनपूजन करने का विधान किया है। जलाभिषेक या पंचामृताभिषेक का कोई निर्देश नहीं है।

११. उपासकाध्ययन —— सोमदेवसूरि (विक्रम संवत् १०१६)
यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव ने उपासकाध्ययन के अन्तर्गत पूजन का विस्तृत वर्णन किया है। इनके पूजन प्रकरण पर ब्राह्मण धर्मका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अभिषेक में पहले जल से, फिर दाख, खजूर तथा सुपारी आदि के रसों से, तत्पश्चात् घी, दूध, दही, इलायची और लोंग आदि के चूर्ण से जिनबिम्ब की उपासना करने का विधान किया है।

इस प्रकार सोमदेव ने सर्वप्रथम पंचामृताभिषेक का विधान किया है। उनका यह विधान आचमन आदि के विधान के समान ही हिन्दुओं में प्रचलित पूजन – अभिषेक का अनुकरण है।

१२. अमितगति श्रावकाचार - आचार्य अमितगति (विक्रम की ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध)
इन्होंने पूजन के दो भेद करके द्रव्यपूजा और भावपूजा के स्वरूप का वर्णन किया है, फिर इन्होंने जिनपूजा का माहात्म्य और फल वर्णन करके लिखा है कि जिनस्तव,

जिनस्नान और जिनोत्सव करनेवाले पुरुष लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं। इसके सिवाय कहीं पर भी किसी भी प्रकार के अभिषेक का कोई निर्देश नहीं किया है।

१३. **चारित्रसार-गत श्रावकाचार - चामुण्डराय** (विक्रम संवत् की दसवीं शती का पूर्वार्ध)
चामुण्डराय ने श्रावक व्रतों का वर्णन कर अन्त में इज्या, वार्ता आदि छह आर्य कर्मों के वर्णन में पूजन के महापुराणोक्त चारों प्रकारों की पूजाओं का स्वरूप कह करके स्नपन–अभिषेक करने का निर्देश मात्र किया है।

१४. **वसुनन्दि श्रावकाचार - आचार्य वसुनन्दि** (विक्रम संवत् की बारहवीं शती का पूर्वार्ध)
वसुनन्दि ने द्रव्य और भावपूजन करने का विधान किया है। पुन: श्रावक के अन्य कर्तव्यों का वर्णन करते हुए पूजन का विस्तृत वर्णन किया है और शास्त्रमार्ग से स्नपन करने का विधान किया है। तदन्तर काल पूजा के अन्तर्गत तीर्थंकरों के कल्याणकों के दिन इक्षुरस, घी, दही, दूध, गंध और जल से भरे कलशों से जिनाभिषेक का वर्णन किया है।

१५. **सावयधम्मदोहा ——— (देवसेन या लक्ष्मीचन्द्र ?)**
इसमें बताया है कि जो जिनदेव को घी और दूध से नहलाता है वह देवों के द्वारा नहलाया जाता है।

१६. **सागारधर्मामृत ——— पं. आशाधर** (विक्रम की तेरहवीं शती का उत्तरार्ध)
पं. आशाधरजी ने अपने से पूर्ववर्ती समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर श्रावकाचारों का आश्रय लेकर सागारधर्मामृत की रचना की है। आपने सोमदेवसूरि तथा श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्रसूरि का भरपूर उपयोग किया है। कई जगह श्वेताम्बर आचार्यों की व्याख्या का प्रभाव ही नहीं शब्दश: समानता दिखती है। सागार धर्मामृत के दूसरे अध्याय में महापुराणानुसार पूजा के नित्यमह भेदों का वर्णन और तदनुसार "बलि–स्नपन" का निर्देश ही दिया है। पंचामृताभिषेक का कोई वर्णन नहीं है। छठे अध्याय में श्रावक की सम्पूर्ण दिनचर्या का वर्णन किया है। प्रात:काल जिन–मन्दिर में पूजन का विधान (बिना पंचामृताभिषेक के) किया है, फिर मध्यान्ह में अपने घर में पंचामृत अभिषेक सहित पूजन का विधान लिखा है। ऐसा क्यों? इस

प्रश्न के उत्तर से ज्ञात होता है कि आशाधर के समय तक सार्वजनिक जिन-मन्दिर में पंचामृताभिषेक का प्रचलन नहीं था। शायद उन्होंने अपने मूर्ति-प्रतिष्ठा शास्त्र के प्रचारार्थ मध्यान्ह - पूजा के समय घर पर सहज सुलभ दूध-दही आदि से भी अभिषेक करने का विधान कर दिया।

१७. **धर्मसंग्रह श्रावकाचार — पं. मेधावी** (विक्रम संवत् की सोलहवीं शती का पूर्वार्ध)
इसमें पं. मेधावी ने प्रात: या मध्यान्ह - पूजन के समय पंचामृताभिषेक का कोई वर्णन नहीं किया है। केवल "काल - पूजा" के वर्णन में वसुनन्दि के समान ही इक्षु घृतादि रसों के द्वारा स्नपन कर जिनपूजन करने का निर्देश किया है।

१८. **प्रश्नोत्तर श्रावकाचार— श्री. सकलकीर्तिजी** (विक्रम संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी)
इसमें जिन पूजन का विस्तृत वर्णन करते हुये भी पंचामृताभिषेक का कोई वर्णन नहीं किया है। इन्होंने लिखा है कि "जो उत्तम भाव से स्वच्छ जल के द्वारा जिनदेव के अंग का प्रक्षालन करते हैं, उस धर्म से उनका महापाप - मल क्षय हो जाता है।" इससे सिद्ध है कि श्री सकलकीर्तिजी पंचामृताभिषेक के पक्ष में नहीं थे, जबकि वे स्वयं प्रतिष्ठाएँ कराते थे।

१९. **गुणभूषण श्रावकाचार— श्री गुणभूषण** (समय अज्ञात पर, आचार्य वसुनन्दि से पीछे)
श्री गुणभूषण ने नामादि छह प्रकार के पूजन का विस्तार से वर्णन करते हुये भी जलाभिषेक या पंचामृताभिषेक का कोई वर्णन नहीं किया है।

२०. **धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार— श्री ब्रह्मचारी नेमिदत्त**
(विक्रम संवत् सोलह वीं शताब्दी)
इसमें पंचामृताभिषेक करने का केवल एक श्लोक में विधान किया है।

२१. **लाटी संहिता —— श्री राजमल्ल** (विक्रम संवत् की सतरह वीं शताब्दी)
इसमें दो स्थानों पर पूजन करने का विधान है, परन्तु इन दोनों ही स्थलों पर न जलाभिषेक का निर्देश किया है और न पंचामृताभिषेक का ही।

२२. उमास्वामी श्रावकाचार — (उमास्वामी ?)

इसके रचयिता ने प्रात:कालीन पूजन के समय जिनालयों में पंचामृताभिषेक का स्पष्ट उल्लेख किया है। इसे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता प्रसिद्ध आचार्य उमास्वामी (विक्रम की प्रथम – दूसरी शताब्दी) का रचा हुआ कहते हैं जो सरासर गलत है एवं धोखा है। लगता है कि, आचार्य उमास्वामीजी के नामपर इसे किसी भट्टारकने लिखा है। इसके प्रारम्भ में दूसरे श्लोक में कहा गया है कि "मैं पूर्वाचार्यों प्रणीत श्रावकाचारों को भली भाँति से देखकर इस श्रावकाचार की रचना करूगाँ।"

* तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वामी से पहिले रचे गये किसी भी श्रावकाचार का अभी तक कहीं कोई उल्लेख नहीं प्राप्त हुआ और इस श्लोक में पूर्वाचार्यों प्रणीत श्रावकाचारों का उल्लेख है, अत: यह तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वामी के बहुत बाद रचा गया है।

* दूसरे इस श्रावकाचार में पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, यशस्तिलक चम्पूके – उपासकाध्ययन, श्वेताम्बर योगशास्त्र, विवेक विलास और धर्मसंग्रह श्रावकाचार के अनेक श्लोक ज्यों के त्यों अपनाए गये हैं, और अनेक श्लोक मात्र शब्द परिवर्तन के साथ रचे गये हैं।

* इस श्रावकाचार में अन्य कितनी ही ऐसी बातें हैं जिनपर से पाठक सहज में ही इसकी अर्वाचीनता को स्वयं ही जान सकेगें।

* ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में कहा है कि इस (श्रावक की क्रियाओं के) संबंध में जो अन्य ज्ञातव्य बातें हैं, उन्हें मेरे द्वारा रचे गये अन्य ग्रन्थमें देखना चाहिये, पर अभीतक इनके द्वारा रचित किसी अन्य ग्रन्थ का पता नहीं लगा है।

* पट्टावलियों में भी श्रावकाचार के रचनेवाले उमास्वामी का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। जब की तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी का उल्लेख शिलालेखों में पाया जाता है।

* इन सब से यह पूर्णत: सिद्ध है कि यह श्रावकाचार तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा रचित नहीं है।

२३. पूज्यापद श्रावकाचार —— (पूज्यपाद ?)

यह श्रावकाचार भी जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के प्रणेता स्वामी पूज्यपाद देवनन्दि का रचा हुआ नहीं है। किन्तु इस नाम के किसी भट्टारक या अन्य विद्वान का रचा हुआ है। इस श्रावकाचार में प्रतिदिन पूजन करने का विधान किया है, पर अभिषेक का कोई निर्देश नहीं है।

२४. व्रताचार श्रावकाचार —— अज्ञात कृत

इस लघुकाय श्रावकाचार में भी पंचामृताभिषेक का कोई निर्देश नहीं है।

२५. व्रतोद्योतन श्रावकाचार —— श्री अभ्रदेव (सम्भवत: विक्रम संवत् १५५६ - १५९३)

पंचामृताभिषेक का कोई वर्णन नहीं है। मात्र कहा है कि जो भावपूर्वक जिनेन्द्रदेव का स्नपन करता है वह सिद्धालय के परम सुख को प्राप्त होता है।

२६. श्रावकाचार सारोद्धार— श्री पद्मनन्दि (भट्टारक) (विक्रम की चौदहवीं शती का पूर्वार्ध)

इस ११५९ श्लोक प्रमाण ग्रंथ में रचियता ने जिनपूजन का विधान प्रोषधोपवास के दिन केवल आधे श्लोक में किया है।

२७. भव्य धर्मोपदेश उपासकाध्ययन — भगवान जिनदेव

इन्होंने सोमदेव और वसुनन्दी के समान पंचामृताभिषेक का विधान किया है।

२८. उपासक संस्कार एवं देशव्रतोद्योतन (पंचविंशतिका गत)—
— आचार्य श्री पद्मनन्दिजी (विक्रम की बारहवीं शती)

इनमें आचार्यजी ने पंचामृताभिषेक का कोई उल्लेख नहीं किया है।

२९. प्राकृत भावसंग्रह-गत श्रावकाचार — श्री देवसेन
(विक्रम संवत् ९९० से १०१२ तक)

आचार्य देवसेन ने जिनबिम्ब को साक्षात् जिनेन्द्रदेव मानकर जल, घी, दूध और दही से भरे कलशों से स्नपनकर पूजन करनेका विधान किया है।

३०. संस्कृत भावसंग्रह-गत श्रावकाचार — पं. श्री वामदेव
(विक्रम सवंत् १४३६ से पूर्व)

इसमें पंचामृताभिषेक और पूजन को घर पर करके पीछे जिन चैत्यालय जाकर पूजन करने का विधान किया है।

३१. रयणसार ——————— (आचार्य कुन्दकुन्द ?)

इस ग्रंथ में दान और पूजा को गृहस्थों का मुख्य कर्तव्य बतलाने पर भी पंचामृताभिषेक या पूजन का कोई वर्णन नहीं है।

३२. पुरुषार्थानुशासन-गत श्रावकाचार —— पं. गोविन्द
(विक्रम की सोलहवीं शती का पूर्वार्ध)

इसमें नित्य पूजन का निर्देश करके भी अभिषेक का कोई निर्देश नहीं है।

३३. कुन्दकुन्द - श्रावकाचार ——————— (स्वामी कुन्दकुन्द ?)

इस श्रावकाचार के रचयिता दिगम्बर सम्प्रदाय में गौतम गणधर के बाद स्मरण किये जाने वाले कुन्दकुन्द नहीं है। इसके काफी प्रमाण उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना कुन्दकुन्दाचार्य के नाम पर किसी भट्टारक द्वारा की गई है।

उपसंहार / निष्कर्ष :-

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि पंचामृताभिषेक का विधान सोमदेव से पूर्व किसी भी श्रावकाचार कर्ता ने नहीं किया है। परवर्ती श्रावकाचार – रचयिताओं में से भी अनेकों ने उसका कोई विधान नहीं किया है। जिन्होंने पंचामृताभिषेक का वर्णन किया भी है, उन पर सोमदेव के वर्णन का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

आचार्य रविषेण ने श्रावक धर्मों का वर्णन करते हुए पूजन और अभिषेक का कोई वर्णन नहीं किया। जबकि उन्होंने आगे जाकर शोक सन्तप्त भरतजी को सागार धर्मका उपदेश देकर जिन–पूजन और पंचामृताभिषेक करने का विधान कराया। ?

पद्मचरित सोमदेव से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व रचा गया। इस से पूर्व रचित किसी भी दिगम्बर जैन चरित, पुराण आदि में पंचामृताभिषेक का कोई वर्णन अन्वेषण करने पर भी नहीं मिलता है। रविषेण के पद्मचरित से करीब दो सौ वर्ष पूर्व श्वेताम्बर आचार्य

विमलसूरि द्वारा "पउमचरिय" लिखा गया जिसमें पंचामृताभिषेक का वर्णन बहुत स्पष्ट रुप से मिलता है। आचार्य विमलसूरि के "पउमचरिय" एवं रविषेण के "पद्मचरित" में अभूतपूर्व समानता मिलती है और लगता है कि रविषेण का संस्कृत का "पद्मचरित", विमलसूरि के प्राकृत "पउमचरिय" का पल्लवित संस्कृत रूपांतर है।

वरांगचरित और हरिवंशपुराण–गत श्रावकधर्म के वर्णन में पंचामृताभिषेक का कोई वर्णन नहीं है। किन्तु आगे जाकर एक कथा के, प्रसंग में उनमें भी पंचामृताभिषेक का वर्णन है। सम्भवत:, जटासिंहनन्दि एवं जिनसेन प्रथम ने रविषेण का अनुकरण किया हो।

वर्तमान में उपलब्ध दिगम्बर – श्वेताम्बर साहित्य के अध्ययन से यह निश्चित है कि पंचामृताभिषेक श्वेताम्बर जैनों में पूर्व से प्रचलित था।

गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि जिस प्रतिमा की पंचकल्याणकों के साथ प्रतिष्ठा की जा चुकी है और जिसे अरिहन्त और सिद्ध पद को प्राप्त हुई मान लिया जाता है, उस प्रतिमा का प्रतिदिन जन्म मानकर कल्पित पाण्डुकशिला पर जन्माभिषेक करना कहाँ तक उचित है? फलितार्थ यही है कि प्रतिष्ठित प्रतिमा का पंचामृताभिषेक करना ठीक नहीं। जन्माभिषेक की कल्पना करके जलाभिषेक करना भी अनुचित है। किन्तु वायुसे उड़कर प्रतिमापर लगे रजकणों के प्रक्षालनार्थ जल से अभिषेक करना उचित है।

जीव हिंसा की दृष्टि से भी दूध–दही आदि से अभिषेक करना उचित नहीं है। क्यों कि श्रावकाचारों में वर्णित विधि से शुद्ध दूध, दही और घी का मिलना सर्वत्र सुलभ नहीं है और अमर्यादित दूध, दही आदि में सम्मूर्छन असंख्य त्रस जीव उत्पत्न हो जाते हैं। दूसरे, अभिषेक के पश्चात् यह सब जहाँ फेंका जाता है, वहाँ पर भी असंख्य त्रसजीव पैदा होते और मरते हैं। तीसरे, असावधानी–वश यदि मूर्ति के हस्त–पाद आदि की सन्धियों में कहीं दूध, दही आदि लग जाता है, तो वहाँपर असंख्य चींटी आदि चढ़ी, चिपटी और मरी हुई देखी गयी हैं। इस भारी त्रस हिंसा से बचने के लिए दूध, दही, घी आदि से अभिषेक नहीं करना श्रेयस्कर है।

* * *

आचार्य समयानुक्रमणिका

(जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग - १)

क्र.	समय	आचार्य नाम	विशेष / प्रधानकृति व गुरु
१	५९९ - ५२७ ई.पू.	भगवान महावीर	अन्तिम तीर्थंकर
२	५२७ - ५१५ ई.पू.	गौतम गणधर	केवली
३	५१५ - ५०३ ई.पू.	सुधर्माचार्य (लोहार्य १)	केवली
४	५०३ - ४६५ ई.पू.	जम्बूस्वामी	केवली
५	४६५ - ३६५ ई.पू.	विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन एवं भद्रबाहु-१ (प्रथम)	पांच श्रुतकेवली
६	३९४ - ३६० ई.पू.	स्थूलभद्र स्थूलाचार्य रामल्य	भद्रबाहु के शिष्य एवं श्वेताम्बर संघ के प्रवर्तक
७	३६५ - ३५५ ई.पू.	विशाखाचार्य	भद्रबाहु के शिष्य ११ अंग १० पूर्वधर
८	३५५ - ३३६ ई.पू.	प्रोष्ठिल (चन्द्रगुप्त मौर्य)	११ अंग १० पूर्वधर
९	३३६ - १८२ ई.पू.	९ और आचार्य	११ अंग १० पूर्वधर
१०	१८२ -५९ ई.पू.	नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन, कंस	११ अंगधारी
११	५९-१२ ई.पू.	४ मुनिराज सुभद्र, यशोभद्र भद्रबाहु-२(द्वितीय), लोहार्य २ (द्वितीय)	अंगधारी

क्र.	समय – ईसवी	आचार्य नाम	विशेष / प्रधानकृति व गुरु
१२	पूर्वपाद प्रथम शताब्दी	आचार्य गुणधर	कषाय पाहुड़ (लोहाचार्य के शिष्य)
१३	पूर्वपाद प्रथम	आचार्य शिवकोटि	भगवती आराधना (मूलाराधना)
१४	३८–१०६	आचार्य धरसेन १	षट्खण्डागम, जोणि पाहुड
१५	६६–१०६	आचार्य पुष्पदन्त	षट्खण्डागम
१६	६६–१५६	आचार्य भूतबली	षट्खण्डागम
१७	१४३–१७३	यतिवृषभ	नागहस्ति के शिष्य कषाय पाहुड की टीका, तिलोय पण्णति
१८	१२७ – १७९	कुन्दकुन्द(पद्मनन्दि)	समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड,बारस अणुवेक्खाा, दशभक्ति, परिकर्म पद्धति टीका, आदि
१९	१२७ – १७९	आचार्य वट्टकेर	मूलाचार
२०	१७९ – २४३	आचार्य उमास्वामी (गृद्धपिच्छ)	आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य तत्त्वार्थसूत्र, जम्बूद्वीप समास (अनुपलब्ध)
२१	१२० – १८५	आचार्य समन्तभद्र	आप्तमीमांसा, स्तुतिविद्या, स्वयंभू स्तोत्र, तत्त्वानुशासन, युक्त्यनुशासन, षट्खण्डागम टीका, (आद्य पांच खण्डोंपर) रत्नकरण्डक श्रावकाचार, कर्मप्राभृतटीका, गन्धहस्ती महाभाष्य

क्र.	समय	आचार्य नाम	विशेष / प्रधानकृति व गुरु
२२	दूसरी शताब्दि का मध्यपाद	कुमारस्वामी	कार्तिकेयानुप्रेक्षा
२३	चौथी शताब्दि का पूर्वपाद	विमलसूरि (श्वेताम्बर आचार्य)	पउमचरिउ (रामकथा)
२४	पांचवीं शताब्दि का मध्यापद	पूज्यपाद देवनन्दि	सर्वार्थसिद्धि, मुग्धबोध, जैनेन्द्र व्याकरण, छन्दशास्त्र, शब्दावतार, वैद्यसार, दशभक्ति, शान्त्यष्टक, सारसंग्रह, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, आत्मानुशासन आदि
२५	छठी शताब्दि का पूर्वपाद	वज्रनन्दि	पूज्यपाद के शिष्य, प्रमाण ग्रन्थ
२६	छठी शताब्दि उतरार्द्ध	योगेन्दु	परमात्मप्रकाश, योगसार, दोहापाहुड, अध्यात्म सन्दोह, सुभाषित तन्त्र
२७	५६८	सिद्धसेन (दिवाकर)	सन्मतितर्क
२८	छठी–सातवीं शताब्दि	पात्रकेशरी	पात्रकेशरी स्तोत्र, त्रिलक्षणकदर्थन
२९	६१८	मानतुंग	भक्तामर स्तोत्र

क्र.	समय	आचार्य नाम	विशेष / प्रधानकृति व गुरु
३०	६२० – ६८०	अकलंक भट्ट	राजवार्तिक, अष्टशती, लघीयस्त्रय, बृहद्त्रयम्, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, न्यायचूलिका, अकलंक स्तोत्र, स्वरूपसम्बोधन आदि
३१	६७७	रविषेण	पद्मपुराण (जैन रामायन)
३२	७ वीं – ८ वीं	जटासिंह नन्दि	वरांगचरित
३३	७३८ – ८४०	स्वयम्भू	पउमरिउ
३४	७४८ – ८१८	जिनसेन १	हरिवंशपुराण
३५	७७० – ८६०	वादीभसिंह	क्षत्रचूडामणि, गद्यचूडामणि
३६	७७५ – ८४०	विद्यानन्दि १	आत्मपरीक्षा, अष्टसहस्री, सत्यशासन परीक्षा, श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणमीमांसा, जल्पनिर्णय, श्लोकवार्तिक, पत्र परीक्षा, नय विवरण आदि
३३	७७० – ८२७	वीरसेनस्वामी	धवला, जय धवला
३४	८ वीं – ९ वीं शताब्दि	पं. धनंजय कवि	विषापहार स्तोत्र, धनञ्जय नाम माला, द्विसन्धान महाकाव्य
३५	८१८ – ८७८	जिनसेन २	आदिपुराण, पार्श्वाभ्युदय
३६	८२८	उग्रादित्य	कल्याणकारकम् (आयुर्वेद)
३७	८७० – ९००	गुणभद्र १	उत्तरपुराण, जिनदत्तचरित्र, आत्मानुशासन

क्र.	समय	आचार्य नाम	विशेष / प्रधानकृति व गुरु
३८	९०५ – ९५५	अमृतचन्द्र	आत्मख्याति, समयसार कलश, प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका, तत्व प्रदीपिका, पुरुषार्थ सिद्धियुपाय, तत्त्वार्थ सार
३९	९४३	अमतिगति–१	योगसार
४०	९३१	हरिषेण	बृहत्कथाकोश
४१	९३३ – ९५५	देवसेन	भावसंग्रह – आलापपद्धति
४२	९९३ – १०२३	अमितगति २	पंचसंग्रह, सुभाषित रत्न संदोह, सार्धद्वय प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति, आराधनासार, श्रावकाचार, द्वात्रिंशतिका सामायिकपाठ
४३	९४३ – ९६८	सोमदेव १	नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलक चम्पू, अध्यात्मतरंगिनी, योगमार्ग
४४	९७८	चामुण्डराय	चारित्रसार, चामुण्डराय पुराण
४५	९८१	सि. च. नेमिचन्द्र	गोमटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, क्षपणासार
४६	१००३–१०६८	शुभचन्द्र १	ज्ञानार्णव
४७	१०१०–१०६५	वादिराज	एकीभाव स्तोत्र, न्यायविनिश्चय–विवरण, प्रमाणनिर्णय, यशोधर चरित्र
४८	९९०	मल्लिषेण	महापुराण
४९	११वीं शताब्दिका उत्तरार्द्ध	पद्मनन्दि ५	पंचविंशतिका

क्र.	समय	आचार्य नाम	विशेष / प्रधानकृति व गुरु
५०	१०६२–१०८१	सोमदेव २	कथासरित सागर
५१	१०६८	नेमिचन्द्र ३ सिद्धान्तिक देव	द्रव्यसंग्रह (गुरु नयनन्दि के शिष्य)
५२	१०६८–१११८	वसुनन्दि ३	प्रतिष्ठापाठ, श्रावकाचार
५३	११७३–१२४३	पं. आशाधर	अनगार धर्मामृत, सागार धर्मामृत, मूलाराधना दर्पण, क्रियाकलाप, प्रमेय — रत्नाकर, प्रतिष्ठापाठ, अमरकोष टीका आदि
५४	१३ वी शती का पूर्वपाद	गुणभद्र २	धन्यकुमार चरित
५५	१४०६–१४४२	सकलकीर्ति	मूलाचार प्रदीप, सिद्धान्तसार दीपक, कर्म विपाक, महावीर पुराण, कर्म विपाक आदि
५६	१६२३	पं. बनारसीदास	समयसार नाटक, अर्ध कथानक
५७	१६७६–१७२३	द्यानतराय	हिन्दी कवि (भजन, पूजा आदि)
५८	१७२४–१७३२	भूधरदास	हिन्दी कवि, जिन शतक आदि
५९	१७४०–१७६७	पं. टोडरमल	गोम्मटसार टीका आदि
६०	१७९५–१८६७	पं. सदासुखदास	रत्नकरण्डक वचनिका
६१	१७९८–१८६६	पं. दौलतराम	छहढाला
६२	१८००–१८४८	वृन्दावन	चौबीसी पूजा
६३	१८०४–१८३०	जयचन्द छाबडा	समयसार वचनिका
६४	१८१४–१८३५	बुधजन	हिन्दी कवि, तत्त्वार्थ बोध
६५	१९ वीं शतीका उत्तरार्ध	प. भागचन्द्र	महावीराष्टक स्तोत्र

* * *